इकाई 1 काव्य लक्षण अथवा काव्य की परिभाषा

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 कवि-कर्म से तात्पर्य
1.3 'लक्षण' का लक्षण अर्थात् परिभाषा कैसी हो
1.4 संस्कृत आचार्यों द्वारा दिए गए काव्य लक्षण
  1.4.1 भामह
  1.4.2 दण्डी
  1.4.3 वामन
  1.4.4 'शब्दार्थौ काव्यम्' काव्य के लक्षण का विस्तार और विवाद
  1.4.5 आनंदवर्धन
  1.4.6 कुन्तक
  1.4.7 मम्मट
  1.4.8 विश्वनाथ
  1.4.9 पंडितराज जगन्नाथ
1.5 पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण
1.6 आधुनिक हिंदी साहित्य में काव्य लक्षण
1.7 कविता क्या है? नयी बहस का आरंभ
1.8 निष्कर्ष
1.9 शब्दावली
1.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि काव्य की परिभाषा कैसी होनी चाहिए;
- संस्कृत आचार्यों के काव्य लक्षण संबंधी मतों का उल्लेख कर सकेंगे;
- हिंदी रचनाकारों और आलोचकों द्वारा दी गई काव्य की परिभाषाओं के विषय में बता सकेंगे; और
- विभिन्न युगों की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों के अनुरूप साहित्य को परिभाषित करने की दृष्टि में हुए परिवर्तन पर प्रकाश डाल सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

साहित्य-सिद्धांत और समालोचना के अध्ययन का आरंभ हम काव्य लक्षण अथवा काव्य की परिभाषा से करेंगे। इसके अंतर्गत इस बुनियादी प्रश्न पर विचार किया जाएगा कि काव्य का स्वरूप अथवा विशेषताएँ क्या हैं, कैसी हैं। इस पाठ को पढ़ते समय आपके मन में सहज सवाल पैदा हो सकता है कि केवल काव्य के लक्षण की ही चर्चा क्यों की जा रही है, साहित्य की अन्य विधाएँ भी तो हैं, उनकी बात क्यों नहीं हो रही। अपने प्रश्न का उत्तर आपको मिल जाएगा जब आप 'काव्य' शब्द का पूरा अर्थ जान जाएँगे। अतः अध्ययन आरंभ करने से पहले आपके लिए यह जान लेना जरूरी है कि 'काव्य' भारतीय वाङ्मय का एक व्यापक शब्द है जिसके अंतर्गत समस्त सृजनात्मक साहित्य शामिल है।

शायद आपने काव्य के भेदों - श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य के विषय में सुना हो। नाटक को दृश्य काव्य कहा गया है क्योंकि यह दृश्य रूप में प्रस्तुत होता है। हम इसे रंगमंच पर अपनी ऑखों से प्रत्यक्ष देखते हैं, जबकि साहित्य की अन्य विधाओं को हम पढ़ते या सुनते हैं। इस तरह आप समझ सकते हैं कि नाटक भी काव्य का ही एक भेद है। काव्य के विभिन्न रूपों - गद्य काव्य, पद्य काव्य, चंपू काव्य आदि के विषय में भी शायद आपने सुना हो।

दुनिया-भर में सजृनात्मक अभिव्यक्ति का आरंभ काव्य के रूप में हुआ। प्राचीनकाल से ही कविता मनुष्य के सुख-दुःख के गहन मनोभावों की अभिव्यक्ति का प्रबल माध्यम बनी हुई है, गद्य का विकास

काफी बाद में हुआ है। अतः साहित्य चिंतन की परंपरा काव्य को केंद्र में रखकर आरंभ हुई और साहित्य-सिद्धांत के चिंतन-विवेचन संबंधी शास्त्र को 'काव्यशास्त्र' और 'Poetics' जैसे नाम दिए गए। अतः ध्यान रखें कि काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु अथवा काव्य प्रेरणा जैसे विषयों के अंतर्गत समग्र रूप में साहित्य की चर्चा समाहित है। 'काव्य लक्षण' नामक प्रस्तुत इकाई में आप विभिन्न युगों के मनीषी आचार्यों और चिंतकों द्वारा दिए गए काव्य लक्षणों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

देश-विदेश के चिन्तकों-आचार्यों के लिए काव्य लक्षण पर विचार करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य रहा है। इस कार्य में सबसे बड़ा जोखिम यह रहा है कि काव्य-विशेष, युग-विशेष की संस्कृति, परम्परा, परिवेश, इतिहास, दर्शन की मूल्य-चेतना को समाविष्ट किए रहता है। जीवन जगत का यथार्थ गतिशील एवं परिवर्तनशील होता है। यथार्थ की यह प्रकृति ही सृजन की प्रकृति को बदलती है। युग-परिवर्तन के साथ जिन वैचारिक क्रान्तियों, आन्दोलनों का जन्म होता है वे सृजन कर्म को काफी दूर तक प्रभावित करते हैं। भारतीय दर्शन और प्रकृति-चेतना ने कवि-कर्म को दृश्य और दृष्टि दोनों क्षेत्रों में आंदोलित किया है। इसी अर्थ में सृजन-कर्म एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के भीतर सामाजिक-नैतिक-सांस्कृतिक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

1.2 कवि-कर्म से तात्पर्य

अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' में कहा है कि 'कवनीयं काव्य' अर्थात कवि-कर्म एक शाब्दिक निर्मिति है। भारतीय संस्कृति में 'कवि' शब्द अनेक अर्थच्छायाएँ रखता है। यहाँ तक कि 'कवि' शब्द 'ईश्वर', 'ब्रह्म' और 'प्रजापति' का पर्याय रहा है। काव्य की व्याख्या के लिए 'कवि' शब्द को समझना आवश्यक है। 'कु' धातु में अच् प्रत्यय (इ) जोड़कर 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई गई है। यहाँ 'कु' का अर्थ है 'व्याप्ति', 'आकाश', 'अनंतता' अर्थात 'सर्वज्ञता'। फलतः कवि और सर्वज्ञ पर्याय प्रतीत होते हैं। कवि ही द्रष्टा है, स्रष्टा है। 'कवि मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' से तात्पर्य है काव्य उसी मनीषी की सृष्टि है जो स्वयं संपूर्ण और सर्वज्ञ हो। 'परिभूः' अर्थात जो अपनी अनुभूति में जीवन जगत के सब कुछ को समेटने की शक्ति से सम्पन्न हो। वैदिक साहित्य में कवि, द्रष्टा और ऋषि समानार्थक हैं और वेदों के विधाता ब्रह्मा को 'आदि कवि' घोषित किया गया है। लौकिक साहित्य में आकर 'कवि' शब्द की अर्थ-व्याप्ति कुछ कम हो जाती है और रमणीय शैली में शब्दार्थ को रचने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। बाल्मीकि रामायण को 'आदि काव्य' और 'महाभारत' को 'काव्य' की संज्ञा दी जाती है। इससे स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में 'कवि' शब्द विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए एक विशेष अर्थ-संदर्भ में रूढ़ हो गया। 'काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कवि-कर्म....' (काव्य-प्रकाश, प्रथमोल्लास) कवि-कर्म को 'काव्य-संसार' कहा गया और कवि को इस संसार का स्रष्टा या ब्रह्मा - 'अपारे काव्यसंसारे कवि रेव प्रजापतिः।' (आदिपुराण, 339 : 10)

ध्यान देने की बात है कि भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य पर एक स्वतंत्र इकाई के रूप में भी चिन्तन-मनन हुआ है। 'कवि मौलिकता' से अर्थ लिया गया कि अनुभूति के लिए कवि किसी का ऋणी न हो। इसलिए प्रश्न उठा कि काव्य का सच्चा लक्षण क्या है? इस विषय को आचार्यों ने अनेक रूपों में उपस्थित किया। वास्तव में, इन आचार्यों के सामने एक समृद्ध सृजन-परम्परा थी। कई तरह की काव्य-कोटियाँ थीं। **भरत मुनि** ने नाटक पर आधारित काव्य लक्षण प्रस्तुत किया। भरत ने लोक-कल्याणकारी काव्य के सात लक्षण माने -

1. मृदु ललित पदावली
2. गूढ़ शब्दार्थहीनता
3. सर्वसुगमता
4. युक्तिमत्ता
5. नृत्य में उपयोग किए जाने की योग्यता
6. रस के अनेक स्रोतों को प्रवाहित करने का गुण
7. संधियुक्तता।

इनमें से पाँचवें और सातवें लक्षण में नाटक (दृश्य काव्य) पर बल है, शेष में गुण, रीति, अलंकार, औचित्य, रस आदि का निर्देश। शायद रस-चिंतन की परम्परा शक्तिशाली थी - इसका प्रमाण भरत और 'अग्निपुराण' दोनों में मिलते हैं। अग्निपुराणकार ने कहा 'वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।' भामह और दण्डी दोनों पर रसवादियों का आतंक है। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'काव्य लक्षण' पर वाद-

विवाद की सीमा न रही। हर बात पर तर्क करना, संशय उठाना, बात की तह में जाना हम भारतीयों का स्वभाव बन गया। इसलिए यह प्रश्न उठा कि 'लक्षण' के लक्षण (विशेषताएँ) निर्धारित की जाएँ ताकि लक्षण कोई भ्रम उत्पन्न न करे क्योंकि काव्य लक्षण के अंतर्गत काव्य के स्वरूप या परिभाषा पर विचार किया जाता है।

1.3 'लक्षण' का लक्षण अर्थात् परिभाषा कैसी हो

किसी वस्तु अथवा विषय के असाधारण अर्थात् विशेष धर्म का कथन करना उसका लक्षण कहलाता है। लक्षण-निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखना अनिवार्य है कि उसमें विवेच्य विषय-वस्तु का ऐसा विशिष्ट गुण निर्दिष्ट किया जाए, जो केवल उसी पदार्थ में विद्यमान हो। प्रायः लक्षण दो प्रकार के होते हैं -

1. स्वरूप लक्षण
2. तटस्थ लक्षण।

लक्षण का प्रमुख प्रयोजन होता है - समान जातीय और विषम जातीय अन्य पदार्थों से विभेद करना अथवा व्यवहार का प्रवर्त्तन कराना। 'स्वरूप लक्षण' में वस्तु के स्वरूप में अंतर्भूत मूल गुण का उल्लेख होता है और 'तटस्थ लक्षण' में इतर व्यावर्तक धर्म का। भारतीय आचार्यों ने सूक्ष्म और अतीन्द्रिय विषयों की विवेचना जैसे ब्रह्म-विद्या जैसे विषय में लक्षण-विधियों का प्रयोग किया है। भारतीय दर्शन में 'सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म' जैसे सूत्र-वाक्यों में ब्रह्म का 'स्वरूप लक्षण' निर्धारित किया गया है तो 'जन्माद्यस्य यतः' आदि सूत्रों में उसके 'तटस्थ लक्षण' का। विवेचना की यही प्रणाली भारतीय दर्शन से भारतीय काव्यशास्त्र में आई है। काव्य लक्षण करते समय कहा गया है कि उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए -

1. काव्य लक्षण में अति-व्याप्ति या अव्याप्ति का दोष नहीं होना चाहिए। अति-व्याप्ति दोष से तात्पर्य है विषय का अनावश्यक अति-विस्तार जैसे 'काव्य का' लक्षण करना चाहते थे लेकिन कर दिया - 'संपूर्ण वाङ्मय का'। जैसे भामह का काव्य लक्षण है 'शब्द अर्थ के सहभाव का नाम काव्य है।' यह लक्षण 'काव्य' का लक्षण न होकर मूलतः 'वाङ्मय' का है। इसलिए भामह के काव्य लक्षण में अति-व्याप्ति का दोष माना जाएगा।

   इसी प्रकार, अव्याप्ति दोष का अर्थ है - अपूर्ण विस्तार, जैसे मूल काव्य लक्षण के केवल एक भेद का लक्षण बताना। उदाहरण के लिए, वर्डसवर्थ का काव्य लक्षण 'कविता तीव्रतम भावों का सहज उच्छलन है।' यह मूलतः प्रगीत-काव्य का लक्षण है जिसे काव्य का एक भेद माना जाता है - काव्य के अन्य रूपों की व्याप्ति इसमें समाहित नहीं हो सकी। अतः वर्डसवर्थ के इस काव्य लक्षण में अव्याप्ति का दोष है।

2. लक्षण सूत्रबद्ध होना चाहिए। अर्थात सारगर्भित, संक्षिप्त तथा अर्थवान होना चाहिए। संक्षिप्त होने से उसे याद रखने में सुविधा रहती है।

3. लक्षण में कोई पारिभाषिक शब्द नहीं होना चाहिए। जैसे पारिभाषिक शब्द है - 'रस'। रस के स्वरूप को समझना शास्त्र से अपरिचित व्यक्ति के लिए असंभव है। इसलिए काव्य लक्षण में रस, वक्रोक्ति, अलंकार जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होगा तो वे कठिनाई उत्पन्न करेंगे।

4. कथन का अति-विस्तार नहीं होना चाहिए। कथन का अति-विस्तार अंतर्विरोधों को जन्म देता है। उससे बचना चाहिए।

5. लक्षण तार्किक, स्पष्ट और सहज बोधगम्य होना चाहिए। जटिलता, अस्पष्टता, दुरूहता से बचना चाहिए ताकि लक्षण सर्वग्राह्य हो सके।

6. घोर दार्शनिक प्रत्ययों को लक्षण में स्थान नहीं मिलना चाहिए क्योंकि 'ब्रह्म', 'माया' आदि दार्शनिक अवधारणाएँ पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा में गहन-सूक्ष्म विवाद का मुद्दा होती है। सामान्य व्यक्ति उनसे अनभिज्ञ होता है।

निष्कर्ष यह कि 'अरथ अमित अति आखर थोरे' (थोड़े शब्दों में अपार अर्थ) का गुण अर्थात सूत्रबद्धता का गुण ही लक्षण की शक्ति है।

काव्य लक्षण के विवेचन में यहाँ तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है - (1) काव्य लक्षण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (2) काव्य लक्षण का आधार (3) विद्वानों के अभिमतों की समीक्षा तथा लक्षण की शक्ति एवं सीमा का निर्धारण।

संस्कृत काव्यशास्त्र की आचार्य-परम्परा बहुत विस्तृत है। इसलिए विवेचन के लिए प्रमुख आचार्यों के काव्य लक्षणों पर ही विचार किया जाएगा। संस्कृत के प्रमुख काव्य लक्षणों पर विचार करने के बाद हम पश्चिमी चिंतकों और हिंदी के आचार्यों तथा कवि-आलोचकों द्वारा प्रस्तुत काव्य लक्षणों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। फिर, तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए अपने निष्कर्षों की ओर बढेंगे।

1.4 संस्कृत आचार्यों द्वारा दिए गए काव्य लक्षण

1.4.1 भामह

अलंकारवादी भामह का काव्य लक्षण इस प्रकार है - 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (काव्यालंकार 1/16) अर्थात शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव काव्य है। भामह ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में अपने से पहले की दो विचारधाराओं का उल्लेख किया है। एक विचारधारा अर्थालंकारों को काव्य-सौंदर्य का मूलाधार मानती है तथा दूसरी शब्दालंकारों को। किंतु दोनों विचारधाराएँ काव्य-सौंदर्य का आधार अलंकारों में ही खोजती हैं। अर्थालंकारवादी भामह तथा शब्दालंकारवादी दण्डी दो भिन्न विचारधाराओं की एकता अलंकार युग में प्रस्तुत करते हैं। अर्थालंकारवादियों का मत था कि रूपक-उपमा आदि अर्थालंकार ही काव्य-शोभा की सृष्टि करते हैं क्योंकि अर्थ-बोध के पश्चात् उन्हीं से काव्य-सौंदर्य की प्राप्ति होती है। भामह का आग्रह भी यही था कि काव्य-कृति में रसों-गुणों का कितना ही बढ़िया सामंजस्य क्यों न हो यदि समर्थ अलंकार-योजना नहीं है तो वह उसी प्रकार श्रीविहीन है जैसे अलंकारविहीन स्त्री (वनिता) का मुख। शब्दालंकारवादी कहते थे कि रूपक-उपमा आदि अर्थालंकार बाह्य प्रतीत होते हैं, काव्य में चमत्कार की सृष्टि तो शब्द-सौंदर्य के द्वारा ही की जा सकती है। शब्द-सौंदर्य से रहित अर्थ-सौंदर्य अधूरा रहता है। काव्य के पठन-पाठन, श्रवण-प्रेक्षण में सर्वप्रथम 'शब्द' ही हमारे हृदय पर अपना प्रभाव छोड़ता है। शब्द-ग्रहण की इस क्रिया के बाद ही अर्थ ग्रहण या अर्थ-प्रतीति होती है। अर्थात् शब्दालंकारों के सामने अर्थालंकारों की सत्ता गौण है। भामह को इन दोनों मतों का समन्वय करना ही उचित प्रतीत हुआ। कवि के लिए शब्द का भी महत्व है और अर्थ का भी। अतः उन्होंने काव्य लक्षण में 'शब्दार्थौ सहितौ' में 'सहितौ' पर विशेष बल दिया। विशेष बात यह भी है कि भामह ने इस विवाद को और गहराया कि काव्यत्व शब्द में होता है या अर्थ में या दोनों के सहभाव में। इस विवाद ने इतना प्रबल रूप धारण किया कि आगे चलकर पण्डितराज जगन्नाथ को कहना पड़ा कि - रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द ही काव्य हैं।

1.4.2 दण्डी

आचार्य दण्डी ने काव्य के शरीर पर विचार करते हुए कहा कि 'शरीरंतावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' ही काव्य है। उनके द्वारा निरूपित 'शरीरं तावदिष्टार्थ...' का 'तावद्' शब्द वाक्यालंकारों के लिए भी प्रयुक्त हुआ। उनका मत है कि केवल उसी शब्द-समूह (पदावली) को काव्य-शरीर कहा जा सकता है जो काव्य के लिए अभिलक्षित सरसता से युक्त हो और कवि-प्रतिभा से युक्त सुंदर पदावली से व्यवच्छिन्न हो। इष्टार्थ-युक्त पदावली का अर्थ यह भी है कि ऐसे पदों में 'योग्यता', 'आकांक्षा', 'आसक्ति' आदि विशेषताएँ भी विद्यमान हों। कारण, जिन पदों में वाक्यत्व की योग्यता नहीं होती वे 'काव्य' नहीं कहे जा सकते। पदावली का 'इष्टार्थत्व' ही काव्यार्थ में चमत्कार की सृष्टि करता है जिसमें लोकोत्तर आह्लादत्व का भाव पूरी तरह अंतर्भुक्त है। पण्डितराज ने जिस 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द' की चर्चा बाद में की है उसका आभास दण्डी ने पहले ही दे दिया। ऊपर से सरसरी तौर पर देखने से लगता है कि वे शरीर-मात्र के स्वरूप का कथन कर रहे थे, किंतु ऐसा नहीं है। उनके कथन में अलंकार के साथ 'रसापेक्षा' भी है। अपने काव्य लक्षण में वे 'रसवद्लंकार' की भूमिका को उपेक्षित नहीं छोडते। ज़ाहिर है कि वे काव्य की आत्मा और काव्य-शरीर का भेद समझकर काव्य लक्षण में प्रवृत्त होते हैं। दण्डी शास्त्रज्ञ ही नहीं हैं, कवि भी हैं। इसलिए रस-चेतना पर उनका ध्यान केंद्रित है - यथा, 'अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव निरंतरम्'। किंतु यहाँ 'रस' शब्द रस-जन्य भावात्मक आनद के लिए न होकर अलंकार-जन्य चमत्कार से उत्पन्न आनंद के लिए ही आया है। दण्डी ने समस्त अलंकारों का उद्देश्य रस-सृष्टि ही माना है। फलतः उनकी काव्यानंद संबंधी मान्यता रसवादियों की मान्यताओं से भिन्न है। वे मुक्त भाव से शब्दालंकार-अर्थालंकार के साथ रसवद् आदि अलंकार को सम्मिलित करते हैं। दण्डी ने काव्य लक्षण में प्रयुक्त 'इष्टार्थ' की स्पष्ट व्याख्या नहीं की। ऐसा लगता है

कि 'इष्टार्थ' में वे भामहकालीन विवाद पर ध्यान देते हैं जिसमे भामह को शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों इष्ट रहे हैं। दण्डी के अनुसार, शब्द-अर्थ-रस-सौंदर्य से विशिष्ट पदावली ही काव्य है। दण्डी की सीमा यह है कि वे 'इष्टार्थ' में केवल अर्थालंकारों पर केंद्रित हो जाते हैं।

1.4.3 वामन

काव्य शब्द में है अथवा अर्थ में? इस विषय में वामन को भामह की 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' वाली मान्यता पर कोई आपत्ति नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि वामन स्वयं प्रश्नाकुल भाव से पूछते हैं कि क्या सामान्य शब्द और अर्थ, काव्य हैं? भामह मानते थे - शब्दालंकार और अर्थालंकार से विशिष्ट शब्दार्थ काव्य है। केवल शब्द और अर्थ को काव्य मानना तो प्रचलन है - 'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। शब्दार्थमात्र वचनोऽत्र गृह्यते।' (काव्यलंकार-सूत्र-वृत्तिः)

किंतु 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' उस युग का सर्वमान्य मत था। इस मत के विरोध में खड़े होने की क्षमता वामन में नहीं थी। वे यह मानने को विवश थे कि काव्य-अलंकार तत्व के कारण ही ग्राह्य है - 'काव्य ग्राह्यमलंकारत्।' इतना ही नहीं, वे यह भी कह बैठे थे कि काव्य के शोभा कारण-धर्म को अलंकार कहते हैं। 'सौंदर्यमलंकारः', 'अलंकृतिरलंकारः', 'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।' इस प्रकार वामन ने काव्य की ग्राह्यता को 'सौंदर्य' से निबद्ध कर दिया। वामन के अनुसार दोष-रहित, सगुण, सालंकार शब्दार्थ काव्य है। वास्तव में वामन न तो काव्य का शास्त्रीय लक्षण ही कर पाए न अलंकारवादियों की कतार में बैठ सके। वामन का गुण-संबंधी दृष्टिकोण भी रसवादियों के गुण संबंधी विवेचन से मेल नहीं खाता। रसवादी गुण का संबंध सीधे रस से जोड़ते हैं जबकि वामन के द्वारा निरूपित 'गुण' शब्द और अर्थ से सीधे सम्बद्ध होने के कारण भाषा या रचना के बाहर तक ही रह जाते हैं। हाँ, वामन का प्रदेय यह माना जा सकता है कि उन्होंने दण्डी के मार्ग को 'रीति' में नए ढंग से विस्तार दिया तथा अलंकार से आगे गुण की चर्चा करके विचार को आगे बढ़ाया।

1.4.4 'शब्दार्थौ काव्यम्' काव्य के लक्षण का विस्तार और विवाद

अलंकारवादी आचार्य **रुद्रट** ने काव्य का लक्षण किया - 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' और अपने लक्षण से भामह के 'सहितौ' को निकाल दिया। काव्य-चिंतन की पूर्व परम्परा को देखने पर ऐसा लगता है कि रुद्रट के समय तक यह विवाद प्रबल हो गया था कि काव्य शब्द में रहता है या अर्थ में या दोनों में। इस विवाद पर ही निर्णयात्मक स्वर में रुद्रट को कहना पड़ा कि शब्दार्थ निश्चय ही काव्य है। वामन-रुद्रट के बाद भी अलंकारवादी शान्त नहीं हुए और काव्य लक्षण के निरूपण में चमत्कारमय शब्दार्थ संबंध के सौंदर्य को काव्य मानने का आग्रह करते रहे। इन आचार्यों में हेमचन्द्र, विद्यानाथ, वाग्भट्ट, जयदेव आदि प्रमुख हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं -

हेमचन्द्र	-	अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम् (काव्यानुशासन)
विद्यानाथ	-	गुणालंकार सहितौ शब्दौ दोष वर्जितौ। (प्रताप रुद्रयशोभूषण)
वाग्भट्ट	-	शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौकाव्यम् (काव्यानुशासन)
जयदेव	-	निर्दोषा लक्षणावती सरीतिर्गुणभूषणा। सालंकार रसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनाम भाक्।। (चन्द्रालोक)
भोज	-	निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसाविन्तं कविं कुर्वन प्रीति कीर्ति च विदंति।। (सरस्वती कंठाभरण)

इन काव्य लक्षणों से स्पष्ट है कि ये सभी आचार्य भामह और मम्मट के काव्य लक्षण की ही थोड़े-बहुत फेर से पुनरावृत्ति करते रहे। इनमें न मौलिकता थी न काव्य को ठीक से समझने की शक्ति। बाद में अग्निपुराणकार ने कहा कि ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य का ही नाम वाङ्मय है जिसके अंतर्गत शास्त्र, इतिहास तथा काव्य का समावेश रहता है। शास्त्र और काव्य में शब्द की प्रधानता होती है, इतिहास में इतिवृत्तात्मकता की। काव्य में अभिधा का प्राधान्य रहता है जिसके कारण वह इतिहास और शास्त्र से भिन्न हो जाता है, फिर 'कवित्व' तो प्रतिभाशाली के लिए भी दुर्लभ है। काव्य लक्षण देते हुए उन्होंने कहा कि 'जिस वाक्य समूह में अलंकार स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हों तथा जो गुणों से युक्त और दोषों से मुक्त हो उसे काव्य कहते हैं।' इन आचार्यों ने यह सोचने तक का प्रयास नहीं किया महान प्रतिभा दोष मुक्त नहीं हो सकती।

1.4.5 आनंदवर्धन

हम देख चुके हैं कि अलंकार-युग के आचार्य काव्य लक्षण के संबंध में विचार करते हुए काव्य के शरीर पक्ष या बाह्य-सौंदर्य को ही प्रधानता देते रहे। नतीजा यह हुआ कि उन्होंने काव्य के आत्म-तत्व अथवा आंतरिक सौंदर्य की उपेक्षा की। वे रस-रीति-गुण को भी अलंकार-सौंदर्य से ही समझाते रहे। अंततः नवीं शताब्दी में आचार्य आनन्दवर्धन ने इस परम्परा से विद्रोह किया। आनंदवर्धन का 'ध्वन्यालोक' इसी विचार-क्रान्ति का दस्तावेज़ है। आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि को मानते हुए अलंकार और अलंकार्य की पृथकता घोषित की। उन्होंने रस तथा सहृदय की काव्यानुभूति को पर्याप्त महत्व दिया तथा नए ढंग की काव्य लक्षण परम्परा की शुरुआत की।

1.4.6 कुन्तक

अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर आचार्य कुन्तक ने आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के काव्य-दर्शन की वस्तुवादी व्याख्या की। उन्होंने 'वक्रोक्ति' को काव्य का व्यापक गुण मानते हुए उसे काव्य की आत्मा कहा। कवि-कर्म सामान्य आदमी के मार्ग से भिन्न है, कवि की वक्र शब्दावली में कल्पना के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। वक्रता को 'वैचित्र्य' तथा 'वैदग्ध्य भंगी भणिति' अर्थात् विदग्ध व्यक्ति के कहने का विशेष गुण कहा। काव्य के भाव-पक्ष की कला-पक्षीय व्याख्या करते हुए उन्होंने काव्य का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया -

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।। (वक्रोक्तिजीवितम)

कुन्तक के इस काव्य लक्षण की सीमा यह है कि हमें 'वक्रोक्ति' के विषय में समझना पड़ता है। कुन्तक मानते हैं 'वक्रतामय कवि-कौशलयुक्त मर्मस्पर्शी शब्दार्थ काव्य है।' यहाँ 'वक्रोक्ति' से तात्पर्य है - विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा के भण्डार में अनेक शब्द होते हैं किंतु कवि उसी शब्द का प्रयोग करता है जो उस अर्थ को व्यक्त करने में सर्वाधिक समर्थ हो।' काव्यार्थ सहृदय आह्लादकारी, स्वस्पंद तथा रमणीय होता है। अर्थ तथा 'विवक्षित (ध्वनित) अर्थवाचक' शब्द दोनों ही काव्य के अलंकार्य हैं - अलंकार नहीं। अलंकार काव्य-शोभा के बाह्य उपकरण होते हैं जो शब्द और अर्थ दोनों को अलंकृत कर सकते हैं। इस प्रकार की रचना में अद्भुत सौंदर्य अभिव्यंजित होता है। इस 'वैदग्धं कवि कौशलं, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः' से जाहिर है कि कुन्तक वक्रोक्ति से अभिव्यंजना के सौंदर्य का अर्थ लेते हैं। वक्रोक्ति का एक आंतरिक पक्ष है - वर्ण्य-विषय में नवदीप्ति उत्पन्न करने वाला और एक बाह्य सौंदर्य पक्ष-गुण-अलंकार आदि का। 'वक्रता विचित्र गुणालंकार सम्पदा' का अभिप्राय अद्भुत कला दक्षता से ही है। क्योंकि 'विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।' अर्थात वक्रोक्ति अभिव्यंग्य और अभिव्यंजक के विभिन्न स्तरों को अपने में अंतर्भूत करती हुई विचित्र अभिधा अर्थात् अभिव्यंजना की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेदों में वर्ण्य का अंतर्भाव कर लिया किंतु बल अभिव्यंजना के कौशल पर दिया। इस प्रकार, कुन्तक ने काव्य के वर्ण्य-पक्ष पर कम बल दिया और अभिव्यंजना-पक्ष पर विशेष बल। यही कारण है कि उनकी 'वक्रोक्ति' विषयक अवधारणा ध्वनि-सिद्धांत की चेतना वाला विशद् संदर्भ प्राप्त न कर सकी।

1.4.7 मम्मट

मम्मट ने 'दोषरहित, गुणसहित और कभी-कभार अनलंकृत, शब्द और अर्थमयी रचना को काव्य' कहा है - **तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (काव्य-प्रकाश)**। इसमें दोषों के अभाव और गुणों के भाव को प्रधानता प्रदान की गई है और अलंकारों को नितांत आवश्यक नहीं माना है। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट की इस काव्य-परिभाषा की आलोचना करते हुए कहा है कि श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कविताओं में भी कभी-कभार दोष निकल ही आता है और दोष निकल आने पर भी हम उसे कविता की श्रेणी से खारिज नहीं कर देते। अतः 'अदोषौ' एक नकारात्मक लक्षण है। दूसरी बात यह कि यदि अलंकार कविता के लिए आवश्यक नहीं है जो उनकी चर्चा का ही कोई औचित्य नहीं है। इस परिभाषा में न रस का संकेत है न ध्वनि न वक्रोक्ति का - केवल 'गुण' का संकेत है।

प्रश्न उठता है कि मम्मट का यह काव्य लक्षण इतना प्रसिद्ध क्यों रहा? अपनी सरलता के कारण यह लोकप्रिय हुआ। वास्तविकता यह है कि इसमें मौलिकता कम, समझौते की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। मम्मट अलंकारवादियों को भी खुश करना चाहते हैं और गुणवादियों को भी। शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य हैं - यह कथन भी पुराने विवाद के शमन का प्रयत्न है। वामन ने दोष-त्याग तथा

गुणालंकार की बात पहले ही कह दी थी। इस प्रकार, मम्मट ने रस और ध्वनिवादियों का विरोध भी नहीं किया तथा रसवाद का समर्थन करते रहे हैं।

1.4.8 विश्वनाथ

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने अपने पक्ष को सामने रखते हुए काव्य का लक्षण किया है - **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।** (साहित्य-दर्पण, परिच्छेद-1) अर्थात् रसयुक्त वाक्य काव्य है। 'सार-सार को गहि रहै थोथा देय उड़ाय' की नीति को अपनाते हुए आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्यत्व' के लिए रसत्व का आधार ग्रहण किया। क्योंकि गुण-अलंकार-वक्रोक्ति-ध्वनि आदि सभी तो रस के पोषक हैं। रसात्मक वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों समाहित हैं। पर 'रसात्मक' कठिन पारिभाषिक अवधारणा है। इस अवधारणा को समझ पाना 'सहृदय' के लिए सहज नहीं है।

राजशेखर ने काव्य के लिए कहा है - 'गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्' (काव्य-मीमांसा) अर्थात् गुणों और अलंकारों से युक्त वाक्य का नाम काव्य है ।' राजशेखर मानते थे कि अतिशयोक्तिपूर्ण होने से न तो कोई काव्य त्याज्य होता है न असत्य। क्योंकि काव्य में जो अर्थवाद या अतिशयोक्ति होती है - उसका समर्थन शास्त्र और लोक दोनों करते हैं। जो लोग काव्य में वर्णित संभोगादि शृंगार में अश्लीलता का अंश पाकर चौंकते हैं वे भ्रान्ति में है, क्योंकि काव्य में जीवन की समग्रता को अभिव्यक्ति दी जाती है। उसमें संयोग कैसे छूट सकता है। अतः कलावाद की दृष्टि से श्लील-अश्लील का प्रश्न ही गलत है। यह भी कहा गया है कि विश्वनाथ ने भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के स्थान पर 'वाक्यं रसात्मकं काव्य' पद का प्रयोग किया है ।'वाक्य' में काव्य शरीर तथा 'रसात्मक' में काव्य की आत्मा दोनों का समाहार है। यों तो अभिनवगुप्त ने भी रस को ही काव्य की आत्मा माना है - किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र की परवर्ती परम्परा में विश्वनाथ को ही रसवाद का प्रतिनिधि समझा जाने लगा। मम्मट की काव्य लक्षण संबंधी मान्यता का खण्डन करके उन्हें अपनी बात स्पष्टता से रखनी थी। इसीलिए 'रसात्मकता' के आधार पर काव्य लक्षण प्रतिपादित करने का अर्थ हुआ काव्यात्मा तथा काव्यात्मकता दोनों में रस के महत्व को स्वीकार करना। विश्वनाथ का काव्य लक्षण रसवाद के इसी महत्व की घोषणा है।

1.4.9 पंडितराज जगन्नाथ

रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी) ने काव्य लक्षण की उस पूरी परम्परा पर ध्यान दिया जिस परम्परा में यह पुराना विवाद चला आ रहा था कि काव्य शब्द में होता है या अर्थ में अथवा शब्द-अर्थ दोनों में। इस विवाद से पंडिराज बचना भी नहीं चाहते थे। इसीलिए उन्होंने निर्भ्रान्त भाव से कहा कि काव्य शब्द में होता है। रमणीयतार्थ प्रतिपादक शब्द काव्य है। उन्होंने काव्य लक्षण निरूपण इस प्रकार किया -

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'

'रमणीयता च लोकोत्तराल्हादजनक ज्ञान गोचरता। लोकोत्तरत्वं चाल्हादगत-श्चमत्कारत्वापर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति विशेषः। कारणं च तदवच्छिन्ने भावना-विशेष पुनरनुन्धानात्मा। 'पुत्रस्ते जातः', 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्यस्याल्हादस्य न लोकोत्तरत्वम्। अतो न तस्मिनंवाक्ये काव्यत्व प्रसक्तिः।

इत्थं च चमत्कारजनक भावनाविषयार्थ प्रतिपादक शब्दत्वम् यत्प्रतिपादितार्थ विषयक भावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्वम।

स्विविशिष्टजनकतवाच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेणचमत्कारत्ववत्वमेव काव्यत्वमिति फलितम्।' (रसगंगाधर, पृ4-5)

डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त ने 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक अपने शोध-प्रबंध में पंडितराज जगन्नाथ के उपर्युक्त काव्य लक्षण पर विचार करते हुए कहा है कि 'पण्डितराज ने यहाँ तीन काव्य लक्षणों को प्रस्तुत किया है अथवा यों कहिए, नैयायिक निरूपण प्रक्रिया को अपनाकर ही काव्य लक्षण को सामान्य, परिष्कृत एवं निष्कृष्ट या फलित रूप में प्रस्तुत किया है। यह निरूपण नैयायिक पदावली के प्रयोग से कुछ दुरूह-सा हो गया है। अतः उसपर एक व्याख्यात्मक दृष्टिपात की अपेक्षा है।' (पृ.34) अतः डॉ.गुप्त ने सामान्य, परिष्कृत, फलित तीनों पर अलग-अलग विमर्श प्रस्तुत किया।'सामान्य लक्षण के अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।' इस लक्षण से जाहिर है कि पंडितराज

विशिष्ट शब्दवादी हैं। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि पंडितराज के शब्द की विशिष्टता अन्य विशिष्टतावादियों से थोड़ी अलग है। प्रायः भाषा के समस्त शब्द अर्थ-प्रतिपादक ही होते हैं - निरर्थक शब्दों के लिए भाषा में स्थान ही नहीं होता। सामान्य भाषा के शब्दों के प्रतिपाद्य अर्थ से काव्य का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न हुआ करता है। जिसे कुन्तक ने 'स्वस्पन्दसुंदर' और आनन्दवर्धन ने 'सहृदयश्लाघ्य' कहा है - उसे ही पंडितराज 'रमणीय' कहते हैं। भाषागत सामान्य शब्द तो सामान्य अर्थों का ही प्रतिपादन करेंगे किंतु काव्य-भाषा के शब्द एक चमत्कारी अपूर्व आह्लाद की सृष्टि करते हैं। इस बात को नैयायिकों की भाषा में कहें तो कहा जा सकता है कि भाषा-शब्दों के सामान्यतः प्रतिपाद्य अर्थ काव्य के रमणीय अर्थ के अवान्तर व्यापार होते हैं।

अर्थ के दो धरातल होते हैं - स्थूल और सूक्ष्म। ये दोनों ही अर्थ 'रमणीयार्थ प्रतिपादन' में निहित मानने चाहिए। कारण यह कि 'रमणीयता' लोकोत्तर आह्लादजन्य ज्ञान का विषय बनने वाला वस्तु धर्म है। 'रमणीयता' ही 'ज्ञानगोचरता' है, वह हमारे ज्ञान का विषय बनती है अर्थात् रमणीय वस्तु हमारे ज्ञान में काव्यानुभूति में आकर लोकोत्तर आह्लाद की सृष्टि करती है। यहाँ विशेष बात यह है कि कितनी चतुरता से पंडितराज रमणीय पदार्थ एवं अनुभूति के बीच ज्ञान का अवयव डालना चाहते हैं। रमणीय अर्थ का यह धरातल स्थूल या भौतिक नहीं है सूक्ष्म और मानसिक है। ज्ञानगोचरता तो मानसिक धरातल की ही वस्तु हो सकती है। रमणीय काव्यार्थ शुद्ध मानसिक धरातल पर ही प्राप्त होता है।

प्रश्न उठता है कि 'भावना-विशेष' का अर्थ क्या है? पंडितराज 'भावना-विशेष' के दो पक्ष मानते हैं - सामान्य और विशेष। ये दोनों पक्ष काव्यार्थ-अनुसंधान के पक्षधर हैं। काव्यार्थ की रमणीयता विषयगत और विषयिगत, दोनों है। काव्य का आह्लाद लौकिक नहीं, 'लोकोत्तर' है। लोकोत्तर का अर्थ है - लोक का परिष्कृत आनंद। लौकिक आह्लाद और लोकोत्तर आह्लाद का पार्थक्य दिखाने के लिए पंडितराज 'लोकोत्तर आह्लाद' को 'चमत्कारत्व' में ले जाते हैं। यह चमत्कार कौतूहल नहीं है काव्यानुभूति की अपूर्वता है। पुत्र-जन्म की सूचना के आह्लाद तथा काव्याह्लाद में मौलिक अंतर है। वे 'चमत्कारत्व' को 'जाति-विशेष' कहते हैं ताकि अन्य आह्लादों से काव्याह्लाद की जाति-विशेष को अलगाया जा सके। 'काव्याह्लाद' तथा 'चमत्कारत्व' अभिन्न हैं। अभिनवगुप्त ने भी 'काव्याह्लाद' तथा 'चमत्कारत्व' की अभेदता प्रतिपादित की है। 'चमत्कार' में एक अर्थ 'संविद विश्रान्ति' का है दूसरा चित्त की 'आन्दोलनात्मक अवस्था' का। रसानुभूति अथवा काव्यानुभूति के क्षणों में विघ्नभूता-नियमन कारिणी वृत्तियों का व्यापार अवरुद्ध हो जाता है तथा आनंदमयी चेतना का निर्विघ्न परामर्श संभव होता है। (इसकी विस्तृत चर्चा खंड 3 में है) यही 'आत्म-विश्रान्ति' है, 'संविद विश्रान्ति' है, रस है। इस प्रकार पंडितराज के काव्य लक्षण - 'चमत्कारी आह्लाद से पूर्ण रमणीय अर्थों के प्रतिपादक शब्द काव्य हैं' → में सर्वाधिक आत्मपरकता है और यह आत्मपरकता सहृदय-मूलक है कविमूलक नहीं। पंडितराज ने भारतीय आचार्यों की तरह कवि तथा सहृदय पर ध्यान केंद्रित किया है - पाश्चात्य आचार्यों की तरह कवि तथा काव्य पर नहीं। भारतीय काव्य-विवेचन का प्रतिमान है - सहृदय या सामाजिक। काव्य-विवेचन में यह 'सहृदय' बाहरी व्यक्ति न होकर भीतरी व्यक्ति है - काव्य से अभिन्न है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के काव्य लक्षणों की परम्परा पर ध्यान केंद्रित करते हुए हम कह सकते हैं पंडितराज के काव्य लक्षण में मम्मट और विश्वनाथ के काव्य लक्षणों में मौजूद शास्त्रीयता का परिहार किया गया है। विश्वनाथ रस को काव्य की आत्मा मानते हैं तथा उसी आधार पर काव्य लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उनके काव्य लक्षण में 'रस' शब्द पारिभाषिक रूप से प्रयुक्त हुआ है। पंडितराज ने विश्वनाथ के 'रस' के स्थान पर 'रमणीयता' शब्द का प्रयोग किया। यह विश्वनाथ के दृष्टिकोण की सीधी अस्वीकृति है। इस अस्वीकृति का कारण है कि यदि 'रसादि ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा माना जाएगा तो उसी के आधार पर 'काव्यत्व' की महिमा का निर्णय होगा तो वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि वाले काव्य उसमें उपेक्षित ही रह जाएंगे। जबकि वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि वाले काव्यों को उत्तम कोटि का काव्य स्वीकार किया गया है।

पंडितराज का काव्य लक्षण प्रकारांतर से यह प्रश्न भी उठा देता है और यह प्रश्न मौलिक भी है कि क्या काव्य में सर्वत्र रसानुभूति ही होती है? काव्य की अन्य अनुभूतियाँ भी हमें कम आह्लाद प्रदान नहीं करतीं। ध्वनि-सिद्धांत भी केवल 'रसादि ध्वनि' को मान्यता नहीं देता। रस-ध्वनि भावात्मक आनन्द, वस्तु-ध्वनि बौद्धिक आनन्द और अलंकार-ध्वनि कल्पनात्मक आनन्द प्रदान करती है। हिंदी साहित्य के आधुनिक चिंतन में गजानन माधव मुक्तिबोध ने यह मत प्रस्तुत किया कि गली के अंधेरे में उगे पौधे में भी सौंदर्य होता है - पतझड़ के वृक्षों में भी एक तरह का सौंदर्य होता है। बौद्धिक अनुभूतियों से प्राप्त सौंदर्य की चरम परिणति रसात्मक नहीं होती, चैन तोड़ने वाली होती है। हर संघर्ष का अपना सौंदर्य है।

पंडितराज का काव्य लक्षण अपनी व्यापकता के कारण ही आज भी बहुतों को ग्राह्य है। उनकी 'रमणीयता' की अर्थ-सीमा बहुत खुला क्षेत्र देती है - सभी ललित कलाओं का सौंदर्य इसमें आ जाता है। चित्र, मूर्ति, वास्तु, काव्य कलाएँ रमणीय अर्थ देती हैं और संगीत रमणीयता। अभिनवगुप्त के मत से रमणीयता चाहे रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द पर आधारित न हो पर उसमे भी सौंदर्यानुभूति की अर्थ-लय रहती है। कहा जा सकता है कि आज भी पंडितराज का काव्य लक्षण नकारने की चीज़ नहीं है नए युग-संदर्भों में विचार करने की चीज़ है।

1.5 पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरंभ **प्लेटो** (427 ई.पूर्व-347 ई.पूर्व) से होता है। आचार्य प्लेटो ही पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के आदि-स्रोत हैं। उन्होंने साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर विचार किया। किंतु उन्होंने काव्य की परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं किया, केवल विवेचन किया। काव्य पर विचार करते हुए कहा कि काव्य प्रकृति का अनुकरण है और प्रकृति सत्य का अनुकरण। अनुकरण का अनुकरण होने के कारण वह सत्य से दूर हो जाता है।

प्लेटो के शिष्य **अरस्तू** ने अपने गुरु के इस विचार का प्रबल तर्कों से खण्डन किया। अरस्तू ने भी काव्य की परिभाषा नहीं की। लेकिन काव्य-विवेचन के दौरान ऐसे विचार व्यक्त किए हैं कि उनके आधार पर काव्य लक्षण का निर्माण किया जा सकता है जैसे (1) काव्य एक कला है, 'चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की ही तरह कवि अनुकर्त्ता है।' (अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ.4) 'महाकाव्य, त्रासदी, कामदी और रौद्र स्तोत्र तथा वंशी-वीणा संगीत के अधिकांश भेद अपने सामान्य रूप में अनुकरण के ही प्रकार हैं।', 'कुछ कलाएँ ऐसी हैं जो उपर्युक्त सभी साधनों का उपयोग करती हैं - लय, राग और छंद सभी का। रौद्र स्तोत्र, राग-प्रधान काव्य, त्रासदी और कामदी इन्हीं के अंतर्गत है।' अरस्तू का 'अनुकरण' से तात्पर्य 'नकल' न होकर 'पुनर्सृजन' है। काव्य प्रकृति का अनुकरण है और अनुकरण सर्जनात्मक प्रेरणा का पर्याय है। अतः कहा जा सकता है - **अरस्तू** के अनुसार काव्य लक्षण बन जाता है - **'काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।'** डॉ. नगेन्द्र ने 'अनुकरण' तथा 'प्रकृति' जैसे विवादास्पद शब्दों की व्याख्या के पश्चात कहा है - "काव्य भाषा के माध्यम से (जो गद्य तथा पद्य दोनों ही हो सकती है) प्रकृति का अनुकरण है। आधुनिक शब्दावली में 'काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनःसृजन है।'" (वही, पृ.27)

लांजाइनस का नाम यूनानी काव्यशास्त्र में अरस्तू के बाद आदर के साथ लिया जाता है। उनकी कृति 'पोरिइप्सुस' ('काव्य में उदात्त तत्व') में कला के आधारभूत सिद्धांतों का विवेचन है। लेकिन वे भी अरस्तू की ही भाँति 'काव्य' और 'प्रकृति' के अंतःसंबंध पर विचार करते हैं। काव्य का प्राण-तत्व है - उदात्त तत्व। काव्य की अंतर्वस्तु और अभिव्यंजना दोनों में उसकी सही व्याप्ति से ही रचना महान या उत्कृष्ट बनती है। लांजाइनस ने काव्य लक्षण देने का प्रयत्न नहीं किया लेकिन काव्य लक्षण के सूत्र दिए हैं - (1) औदात्य अभिव्यंजना के वैशिष्ट्य और उत्कर्ष का नाम है और यही एकमात्र ऐसा आधार है जिसके अवलम्ब से महानतम कवियों एवं लेखकों ने गौरव-लाभ किया है। (2) उदात्त भाषा का प्रभाव श्रोता के मन पर प्रत्यक्ष रूप में नहीं पड़ता वरन् भावों के रूप में पड़ता है। (3) उदात्त एक या दो तत्वों की सिद्धि नहीं है वरन् रचना के समूचे ताने-बाने पर आधृत दुःसाध्य उपलब्धि है। (4) प्रकृति ही सृजन-शक्ति का मूल है। कला इस प्रकृति के सौंदर्य का ही रूप है। (5) प्रकृति अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करने के लिए सजग और सक्रिय रहती है। (6) उदात्त के पाँच उद्गम स्रोत हैं। उदात्त निसर्गजात प्रतिभा है, उत्पाद्य नहीं। (7) अपने पूर्ववर्ती महान कवियों और लेखकों का अनुकरण तथा उनसे स्पर्धा। अपने इन मंतव्यों से लांजाइनस, प्लेटो और अरस्तू के निकट पहुँच जाते हैं। उनका काव्य लक्षण बनता है - **उदात्त काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। उदात्त महान आत्मा की प्रतिध्वनि है।**

अरस्तू की काव्य-परिभाषा वस्तुपरक होने पर भी विवाद के केंद्र में रही। अरस्तू से प्रभावित यूरोप के परवर्ती आचार्यों ने 'प्रकृति' तथा 'अनुकरण' को काव्य लक्षण में अनिवार्य महत्व दिया। **ड्राइडन** ने काव्य लक्षण किया - **'काव्य भावपूर्ण तथा छंदोबद्ध भाषा में प्रकृति का अनुकरण है ।'** और **मैथ्यू आर्नल्ड** ने कहा **'काव्य सत्य और काव्य-सौंदर्य के सिद्धांतों द्वारा निर्धारित उपबंधों के अधीन जीवन की आलोचना का नाम काव्य है।'** यहाँ 'आलोचना' का अर्थ है - समग्र जीवन की समीक्षा। भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से मैथ्यू आर्नल्ड का काव्य लक्षण अति-व्याप्ति दोष के साथ पारिभाषिक शब्दावली

से बोझिल है। लक्षण में 'काव्य-सत्य' और 'काव्य-सौंदर्य' शब्दों का प्रयोग उचित नहीं कहा जा सकता। फिर आर्नल्ड का यह लक्षण अरस्तू की धमक लिए हुए है - आर्नल्ड का 'जीवन' अरस्तू के 'प्रकृति' का पर्याय है और 'क्रिटिसिज़्म' 'समीक्षा या आलोचना' भी अरस्तू के 'अनुकरण' की अर्थच्छाया लिए हुए है। 'काव्य-सत्य' और 'काव्य-सौंदर्य' के अंतर्गत काव्य के राग-तत्व और कल्पना-तत्व को ही स्थान मिला है। 'काव्य-सत्य' विज्ञान का सत्य न होकर कला का राग है - मानव-हृदय का, भावना-अनुभूति का सत्य है। 'काव्य-सौंदर्य' से तात्पर्य है - वस्तु और रूप, विषय और अभिव्यंजना के सामंजस्य पर बल। उदात्तता, संयम, परिष्कार और सांस्कृतिक उन्नयन की शक्ति से ही सौंदर्य में रम्यता और दीप्ति आती है।

स्वच्छंदतावादी कवि-आलोचकों ने अरस्तू, ड्राइडन और मैथ्यू आर्नल्ड से विपरीत दिशा में जाकर काव्य लक्षण प्रस्तुत किए हैं। इनकी मूल-दृष्टि एकदम व्यक्तिपरक है। उदाहरण के लिए, वर्डसवर्थ और कॉलरिज के काव्य लक्षण, शैली और ली हंट के काव्य लक्षण लिए जा सकते हैं। **विलियम वर्डसवर्थ** (1770-1850) ने कविता से संबंधित पूर्ववर्ती सिद्धांत-वाक्यों को अस्वीकार करते हुए कहा - **'कविता बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन होती है। शांत अवस्था में भाव के स्मरण से उसका उद्‌भव होता है।'** फिर कवि की संवेदनशीलता और सौंदर्य ग्रहण क्षमता साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक होती है। मानव और मानवेतर प्रकृति का उसे अधिक ज्ञान होता है - उसकी कल्पना-शक्ति में अप्रत्यक्ष को भी प्रत्यक्ष और मूर्त करने की क्षमता होती है। वर्डसवर्थ की काव्य-परिभाषा -- 'कविता बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन है' -- स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का सहज प्रतिफलन है। वर्डसवर्थ ने काव्य लक्षण में जो अन्य बातें कहीं है वे काव्य-परिभाषा पर कम काव्य की सृजन-प्रक्रिया पर ज्यादा प्रकाश डालती हैं। (Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquillity.) अनुस्मरण केवल स्मरण नहीं है बल्कि भाव का भावन है। विद्वानों का विचार है कि वर्डसवर्थ की इस परिभाषा में अव्याप्ति का दोष है, यह काव्य की परिभाषा न होकर काव्य के एक भेद (प्रगीत-काव्य) तक सीमित परिभाषा है जिसके भीतर प्रबंध काव्य समाहित नहीं हो पाता।

सैमुअल टेलर कॉलरिज ने जैव-सिद्धांत को काव्य संबंधी अपनी धारणा में स्थान दिया। कॉलरिज के अनुसार कविता की परिभाषा - **'कविता रचना का वह प्रकार है जो वैज्ञानिक कृतियों से इस अर्थ में भिन्न है कि उसका तात्कालिक प्रयोजन आनंद है, सत्य नहीं। और रचना के सभी प्रकारों से उसका अंतर यह है कि संपूर्ण से वही आनंद प्राप्त होना चाहिए जो उसके प्रत्येक घटक खंड (अवयव) से प्राप्त होने वाली स्पष्ट संतुष्टि के अनुरूप हो।'** (A poem is that species of composition, which is opposed to works of science, by proposing for it's immediate object pleasure.) कविता की इस परिभाषा में काव्य का मूल प्रयोजन आनंद कहा गया है - सत्य नहीं। सत्य का समर्थन करने वाली परंपरा का खण्डन करते हुए कॉलरिज आनंद को काव्य का चरम प्रयोजन मानते हैं। कॉलरिज के यही विचार **आई.ए.रिचर्डस** को 'कलात्मक परितोष' की ओर ले गए। कॉलरिज ने प्रतिभा तथा कल्पना को अभेद माना। **शैली** ने कहा **'सामान्यतः कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।'** शैली से एक कदम और आगे बढ़कर **ली हंट** ने कहा - **'कल्पनात्मक आवेग का नाम कविता है।'** स्वच्छंदतावादी कवि-आलोचकों ने 'कल्पना' की महिमा स्थापित करते हुए काव्य को आत्माभिव्यक्ति माना। नतीजा यह हुआ कि इन सभी ने काव्य में वस्तु-तत्व की अपेक्षा भाव-तत्व को प्रधानता दी।

पश्चिम में 'उत्तमात्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान कविता' मानने वालों की भी एक परंपरा रही है लेकिन वहाँ भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि लक्षणकारों की तरह काव्य को 'शब्दार्थ रूप' नहीं माना गया। **आई.ए.रिचर्डस** ने माना कि काव्य अनुभूति है, जीवनानुभूति है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' में रिचर्डस ने कविता की परिभाषा पर विचार किया है। रिचर्डस केवल अनुभूति को कविता मानते हैं। इसी तर्क से वे कविता की परिभाषा अनुभूति के आधार पर करते हैं - **'कविता अनुभूतियों का एक ऐसा वर्ग है जो मानक अनुभूति से, प्रत्येक विशेषता में भिन्न होती हुई भी, किसी विशेषता में एक-खास मात्रा में भिन्न नहीं होती।'** रिचर्डस की इस परिभाषा को विद्वानों ने दुरूह-जटिल-अस्पष्ट कहा है। रिचर्डस 'मूल्य-सिद्धांत' और 'सम्प्रेषण-सिद्धांत' में काव्य-पाठक पर ही ध्यान केंद्रित किए रहे। अतः वे काव्य को ठीक-ठीक परिभाषित नहीं कर सके।

टी.एस.एलियट ने काव्य-चिंतन में 'एण्टी-रोमाण्टिक' रवैया अपनाते हुए घोषित तौर पर कहा कि रचनाकार जितना ही उत्कृष्ट होगा, उसमें भोक्ता और स्रष्टा का अंतर उतना ही स्पष्ट होगा। उन्होंने

काव्य लक्षण का संकेत इस प्रकार से दिया कि एक नया विचार उभरकर सामने आ गया। एलियट ने कहा - **'कविता या कला, कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है क्योंकि उसे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करनी ही नहीं है - वह तो अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है जो केवल माध्यम है, व्यक्तित्व नहीं।'** (The poet has, not a personality to express, but a particular medium, which is only a medium and not a personality.) **'काव्य भाव का स्वच्छंद प्रवाह नहीं, भाव से मुक्ति या पलायन है। वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व से मुक्ति है।'** (Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality. – Selected Work, T.S. Eliot, p.58) जिनके पास व्यक्तित्व और भाव हैं वे ही जान सकते हैं उनसे मुक्ति की आकांक्षा का अर्थ क्या होता है। परंपरा जीवित संस्कृति का वह अंश है जो अतीत के दाय के रूप में प्राप्त होकर वर्तमान का निर्माण और भविष्य का दिशा-निर्देश करती है।

पश्चिम में 'कविता क्या है?' पर निरंतर वाद-विवाद होता रहा है। **मनोविश्लेषणवादी और मार्क्सवादी 'कला कला के लिए'** और **'कला जीवन के लिए'**, दो ग्रुपों-गुटों में बँटे रहे हैं। **'नयी समीक्षा'** (न्यू क्रिटिसिज़्म) स्कूल के विद्वानों ने काव्य लक्षण पर बहस करने के बाद अपना निष्कर्ष दिया है कि **'कविता एक शाब्दिक निर्मित है।'** अर्थात् कविता शब्द है और अंत में भी यही बात बचती है कि कविता शब्द है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण पर विचार करने वाले आचार्यों ने काव्य को 'शब्दार्थ-रूप' माना है। अतः काव्य लक्षण का पूरा रूप है - काव्य अर्थ का रमणीय शाब्दिक प्रतिपादन है। पश्चिम के आचार्यों ने शब्द और अर्थ की महिमा का महत्व पहचानते हुए भी भारतीय आचार्यों की तरह काव्य लक्षण में 'शब्दार्थ' की महिमा का बहुत गहराई से चिंतन नहीं किया है।

1.6 आधुनिक हिंदी साहित्य में काव्य लक्षण

हिंदी साहित्य के आदिकाल तथा भक्तिकाल में सृजन-परम्परा तो समृद्ध और सम्पन्न रही, पर काव्यशास्त्र पर अलग से विचार नहीं किया गया। तुलसीदास के 'मानस' में कथन के 'सहज कवित कीरत विमल सोइ आदरहि सुजान' में काव्य लक्षण का संकेत तो है पर विधिवत काव्य लक्षण नहीं मिलता। रीतिकालीन कवि-आचार्य सामान्यतः संस्कृत काव्यशास्त्र के काव्य लक्षणों की नकल ही करते रहे। उदाहरण के तौर पर आचार्य चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरू' तथा 'शृंगार मंजरी' में मम्मट और विश्वनाथ का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है -

(क) 'बतकहाउ रस में जु है कवित कहावै सोई' में विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा की सीधी अनुगूँज है।

(ख) मम्मट से प्रभावित काव्य लक्षण :

सगुन अलंकारन सहित, दोषरहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारों कवित, विवुध कहत सब कोइ।।

वास्तव में रीतिकाल के कवि-आचार्यों में मौलिक काव्य लक्षण करने की ताकत न थी। परिणामस्वरूप वे संस्कृत काव्य लक्षणों का अनुकरण ही करते रहे। यही परम्परा आगे चलकर जगन्नाथ प्रसाद भानु, कन्हैयालाल पोद्दार, लाला भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया और रामशंकर शुक्ल रसाल आदि तक चली आई।

रीतिवाद का विरोध करते हुए आधुनिक युग में **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने शब्द और अर्थ का संदर्भ व्यापक सामाजिकता से जोड़ दिया। भारतीय और पश्चिमी काव्य-चेतना पर ध्यान देते हुए उन्होंने पश्चिमी कवि-आलोचक वर्डसवर्थ की भाँति कविता के लिए बोलचाल की भाषा का प्रतिमान अपनाने की वकालत की। मिल्टन की ओर झुकते हुए कहा, 'कविता को सादा, प्रत्यक्षमूलक और रागयुक्त होना चाहिए।' यहाँ 'सादा' से तात्पर्य है - झूठे चमत्कारवाद से मुक्ति। 'रसज्ञ-रंजन' पुस्तक के लेख 'कवि और कविता' में उन्होंने लिखा -'सादगी, असलियत और जोश (मिल्टन के बताए हुए तीनों गुण) यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है...अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान

रखना चाहिए। वे 'असलियत' के साथ 'कल्पना' से नई-नई बातों की सूझ का संबंध भी अनदेखा नहीं करते।

भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की नवजागरणकालीन मानसिकता का सबसे प्रबल विस्फोट **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** के निबंध 'कविता क्या है' में हुआ। आचार्य शुक्ल 'कविता क्या है' निबंध को जीवन भर लिखते-परिष्कृत करते रहे। कविता के संबंध में उनका संशोधित-सम्पादित मत इस प्रकार है - 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्तावस्था के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावायोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।' (चिन्तामणि, भाग-1, पृ.192) आचार्य शुक्ल के रसवादी प्रतिमान 'कविता क्या है' में सक्रिय रहे पर 'रसदशा' बड़ी चीज़ बन गई - 'जब तक कोई अपनी पृथक सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है।' (वही) 'अपने हृदय को लोक-हृदय में मिला देना ही 'रसदशा' है।' अर्थात् 'रसदशा' व्यापक अर्थ में 'हृदय की मुक्तावस्था' ही है। आ.शुक्ल ने काव्य लक्षणों की परंपरागत शब्दावली का अनुसरण करते हुए कविता को 'शब्द-विधान' की शक्ति माना। पश्चिम की 'नयी आलोचना' में कविता को 'शाब्दिक निर्मिति' कहा जा रहा है जिसमें भारतीय चिंतन-परम्परा की ध्वनि मौजूद है।

हिंदी के छायावादी कवियों ने काव्य लक्षण पर नए ढंग से विचार किया। **सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'** ने स्वच्छंदतावादियों के ढंग पर काव्य की परिभाषा दी कि कविता विमल हृदय का उच्छ्वास है - 'तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कान्तकामिनी कविता।' 'काव्य-अभिव्यक्ति है' यह धारणा प्रसाद, पन्त और महादेवी भी व्यक्त करते रहे हैं। छायावाद को सामाजिक-सांस्कृतिक परम्परा के मूल से जोड़कर **जयशंकर 'प्रसाद'** ने काव्य को आत्मा की 'संकल्पनात्मक अनुभूति' कहा है। प्रसाद जी की प्रसिद्ध काव्य-परिभाषा है - 'काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है....आत्मा की मनन शक्ति की असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारूत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पनात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।' (काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ.38) इस परिभाषा में सौंदर्य एवं सत्य के सामंजस्य के लिए प्रातिभ-अनुभूति पर विशेष बल दिया गया है। आ.शुक्ल और महाकवि प्रसाद ऊपर से देखने पर भिन्न दिखाई देते हैं पर तत्वतः दोनों में गहरी सहमति है - कविता को अनुभूति-योग या भाव-योग मानना। पश्चिमी स्वच्छंदतावादी कवियों का सबसे कम असर आ. शुक्ल पर है और प्रसाद जी पर तो लगभग था ही नहीं। ये दोनों अपनी काव्य-चिंतन भूमि पर खड़े रहकर पश्चिम के काव्य-चिंतन का अर्थ ग्रहण कर रहे थे।

दरअसल, भ्रमवश छायावाद को स्वच्छंदतावाद का पर्याय मान लिया जाता है जबकि दोनों भिन्न देश, भिन्न काल, भिन्न संस्कृति के काव्य-आंदोलन हैं। छायावाद के कवि-आलोचकों ने पश्चिम को पढा-समझा था पर वे नकल में प्रवृत्त नहीं हुए। यह संयोग है कि मुक्ति की आकांक्षा और स्वानुभूति का विस्तार स्वच्छंदतावादी काव्य का भी केंद्रीय सरोकार रहा। वर्डसवर्थ की काव्य-परिभाषा 'Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility' तथा कॉलरिज के अनुसार 'Poetry is the best words in the best order' कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है। इन दोनों काव्य-परिभाषाओं का मूलाधार 'भावना', 'कल्पना' के योग से प्रगीत काव्य है। छायावाद के आत्माभिव्यक्ति सिद्धांत में वैयक्तिक अनुभूति पर अधिक बल देने के कारण इनकी दृष्टि कवि-केंद्रित रही काव्य-केंद्रित नहीं। आगे चलकर इसका विरोध प्रगतिवाद तथा नयी कविता के काल में हुआ। एण्टी-रोमाण्टिक रुझान के लिए अज्ञेय और टी.एस.इलियट दोनों महत्वपूर्ण माने गए।

'कविता क्या है' यह प्रश्न हिंदी के प्रगतिवादी काव्य-चिंतन में नए ढंग से उठाया गया। यहाँ कविता की व्याख्या उसको 'विकासमान सामाजिक वस्तु' मानकर की गई। ऐसी वस्तु, जिसका सृजन व्यक्तिगत प्रयास का परिणाम होते हुए भी मूलतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक भूमि पर केंद्रित होता है। कविता में सांस्कृतिक परम्पराओं की संवेदना का समाहार रहता है। **गजानन माधव मुक्तिबोध** ने कहा - 'काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' है। प्रगतिवादी काव्य-प्रक्रिया को छायावादी काव्य-प्रक्रिया से भिन्न मानते हुए

उन्होंने लिखा है - 'रोमैंटिक कवियों की भाँति आवेशयुक्त होकर, आज का कवि भावों के अनायास, स्वच्छंद अप्रतिहत प्रवाह में नहीं बहता। इसके विपरीत, वह किन्हीं अनुभूत मानसिक प्रतिक्रियाओं को ही व्यक्त करता है। कभी वह इन प्रतिक्रियाओं की मानसिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है, कभी वह उस रूपरेखा में रंग भर देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह व्याकुलता या आवेश का अनुभव नहीं करता। होता यह है कि वह अपने आवेश या व्याकुलता को बाँधकर, नियंत्रित कर, ऊपर उठाकर, उसे ज्ञानात्मक संवेदन के रूप में या संवेदनात्मक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत कर देता है।' (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया, पृ.10) काव्य-सृजन में सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक-सांस्कृतिक शक्तियों का हाथ होता है। इसीलिए उसे 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' कहा गया है।

प्रगतिवाद के काव्य-चिंतन का स्वर मार्क्स से प्रभावित है और मानता है कि काव्यानुभूति की बनावट में सामाजिक सौंदर्यानुभूतियों की भूमिका प्रधान होती है। **डॉ.रामविलास शर्मा** ने 'प्रगति और परम्परा' पुस्तक में माना है कि 'वह (काव्य) एक महान सामाजिक क्रिया है - जो सामाजिक विकास के समानांतर विकसित होती रहती है।' (पृ.130) कविता सामाजिक यथार्थ का चित्रण करती है। हिंदी के अधिकांश आरंभिक प्रगतिवादी काडवेल की इस मान्यता को मानते रहे कि 'साहित्य वह मोती है जो समाज-रूपी सीपी में पलता है।' ('Art is the product of Society as the pearl is the product of the oyster' – Illusion and Reality, p.13) काडवेल के ऐतिहासिक भैतिकवादी चिंतन से हटकर जार्च लुकाच ने काव्य-चिंतन के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी आधार को महत्व दिया। उन्होंने कहा कि हमारी चेतना मात्र भौतिक स्थितियों से नियंत्रित नहीं होती - वह अपेक्षाकृत स्वतंत्र है और कभी-कभी वह बाह्य भौतिक स्थितियों के विपरीत भी जा सकती है। काव्य और कला चिंतन की यह जॉर्ज लुकाच की दृष्टि सौंदर्यशास्त्रियों के चिंतन के निकट है। कविता में जिस अनुभूति का चित्रण होता है वह वैयक्तिक न होकर सामाजिक होती है। इस सामाजिक अनुभूति में जटिलता-संश्लिष्टता और तनाव रहता है। अतः कविता सामूहिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति है। आ.शुक्ल का यह विचार कि 'ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है' हिंदी के प्रगतिशील चिंतकों को मान्य रहा है।

1.7 कविता क्या है? नयी बहस का आरंभ

प्रयोगवादी तथा नयी कविता के कवियों-आलोचकों ने काव्य को नए ढंग से परिभाषित किया है। संवेदनशीलता को निर्मिति का रूपाकार देने वाली रचनात्मकता पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि काव्य के मूल में मानवीय संवेदना की सक्रियता है। मानवीय यथार्थ की तरह मानवीय संवेदना भी गतिशील-परिवर्तनशील है। युग-परिवेश की नवीनता काव्य-चिंतन के पूरे परिप्रेक्ष्य को बदल देती है। कवि-चिंतक **अज्ञेय** ने बदले हुए रागात्मक संबंधों की बात उठाई। परिवेश के साथ भावना तथा चेतना में परिवर्तन हुआ है - उसने पुराने संस्कारगत रागात्मक संबंधों को बदल दिया है। अज्ञेय के कथन में 'वागर्थ प्रतिपत्ति' की आकांक्षा रही है जिसे कालिदास से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने 'तारसप्तक' की भूमिका में उठाया है। **रघुवीर सहाय** के काव्य-संकलन 'सीढ़ियों पर धूप में' की भूमिका में अज्ञेय ने कहा - 'काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शब्द का ज्ञान, शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृती बनाती है। ध्वनि, लय, छंद आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते हैं और इसी में विलय होते हैं। इतना ही नहीं, सारे सामाजिक संदर्भ भी यहीं से निकलते हैं : इसी में युग-सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है।' नयी कविता के दौरान दो बातों पर बहस छिड़ गई 'नया' क्या है और 'कविता' क्या है। नया क्या है? से ज्यादा जीवित प्रश्न था कविता क्या है? **जगदीश गुप्त** ने कहा - 'ये दोनों प्रश्न परस्पर सम्बद्ध और एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। क्योंकि कविता में नवीनता की उत्पत्ति वस्तुतः सच्ची कविता लिखने की आकांक्षा से ही उत्पन्न होती है।...जो कथन सृजनात्मकता (Creativity) तथा संवेदनीयता (Emotivity) से रहित हो उसे किसी भी स्तर पर कविता नहीं कहा जा सकता।' पर जगदीश गुप्त ने कविता की परिभाषा देते समय 'सृजनात्मकता' शब्द को जाने क्यों छोड़ दिया। उनकी परिभाषा इस प्रकार है - 'कविता सहज आंतरिक अनुशासन से युक्त अनुभूति-जन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ है जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है।' (नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, पृ.116) इसी परिभाषा को स्पष्ट करते हुए आगे कहा - 'यथेष्ट शब्द कवि और पाठक दोनों के इष्ट को अपनी अर्थ-व्याप्ति में समाहित किए हुए है क्योंकि मैं कविता के विषय में कवि के निर्णय को ही अंतिम निर्णय न मानकर श्रोता या पाठक द्वारा उसकी मान्यता को अनिवार्य समझता हूँ।' (वही) इस

परिभाषा पर आपत्ति उठाते हुए 'कविता के नए प्रतिमान' में 'कविता क्या है' निबंध में **डॉ.नामवर सिंह** ने कहा, 'डॉ.जगदीश गुप्त अपनी काव्य-परिभाषा में वह तत्व भूल गए जिसे नयी कविता ने हिंदी काव्य-परम्परा से जोड़ा है। इसीलिए अनुभूति तो उन्हें याद रह गई लेकिन सृजनात्मकता भूल गई।' (पृ.18) इसलिए इस परिभाषा की सबसे बड़ी सीमा है कि यह छायावादी अनुभूति और नयी कविता की नई अनुभूति में फर्क करके नहीं चलती।'सह-अनुभूति' तथा 'सघन लयात्मक शब्दार्थ' में विचार-भंगिमा का नयापन है क्योंकि 'सह-अनुभूति ', 'रसानुभूति' का पर्याय न होकर नवीन काव्यानुभूति का पर्याय है। अतः सह-अनुभूति का प्रश्न 'रसानुभूति' के विरोध में उठाया गया प्रश्न है।

श्री **लक्ष्मीकान्त वर्मा** नयी कविता के प्रसिद्ध सिद्धांतकार और कवि हैं। उनके विचार से 'कविता आत्मपरक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यंजना है।' और 'नयी कविता लघुमानव के लघु परिवेश की सच्ची अभिव्यक्ति।' (नयी कविता के प्रतिमान, पृ.194) 'कविता' का लघु-मानव से क्या संबंध? इस संबंध पर बहुत वाद-विवाद हुआ और लघु-मानव को 'सहज मानव' मानने पर आपत्तियाँ उठाई गईं। **ग.मा.मुक्तिबोध** को लघुमानव-सिद्धांत में अमरीकी शीत युद्ध की छाया के दर्शन हुए। लेकिन नयी कविता के प्रबल व्याख्याकार-सिद्धांतकार कविवर **विजयदेव नारायण साही** ने 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' नामक लम्बा लेख लिखकर छायावाद और नयी कविता की अनुभूति को स्पष्ट किया। **गिरिजाकुमार माथुर** ने कहा कि नयी कविता का तो लक्षण यही है कि वह अत्यंत जटिल अनुभवों को अत्यंत सहज और सर्वग्राह्य रूप में व्यक्त करती है और जटिलताओं को पचाकर उसमें सार्वजनीन सत्य का असल तत्व निकालती है। इस प्रकार 'कविता जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति है' पर नयी कविता का कवि यह नहीं भूलता कि उसे इन जटिल संवेदनाओं को सम्प्रेषणीय बनाना है। इसलिए विभावादि के साधारणीकरण का प्रश्न उसके लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है।

कुँवरनारायण ने 'तीसरा सप्तक' के कवि-वक्तव्य में कहा है कि 'कविता मेरे लिए कोरी भावुकता की हाय-हाय न होकर यथार्थ के प्रति एक प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति है।' इस काव्य-परिभाषा में रोमांटिक दृष्टि का विरोध और एंटी रोमांटिक दृष्टि का समर्थन है। प्रश्न उठता है 'मार्मिक अभिव्यक्ति' से तात्पर्य क्या है? तात्पर्य वही है जिसे अज्ञेय ने वास्तविकता के बदलते संदर्भों की बात उठाकर 'नये रागात्मक संबंधों की प्रामाणिकता' के विकास की तथ्यगत स्थिति कहा है। अर्थात् कविता भावना नहीं है वह बुद्धि-प्रेरित व्यापार है। वह अब हृदय की मुक्तावस्था न होकर बुद्धि की मुक्तावस्था है। **केदारनाथ सिंह** ने कहा, 'कविता अपने अनावृत्त रूप में केवल एक विचार, एक भावना, एक अनुभूति, एक दृश्य और इन सबका कलात्मक संगठन है।' (तीसरा सप्तक, कवि-वक्तव्य, पृ.117) केदारनाथ सिंह की इस काव्य-परिभाषा में उनकी बिम्बवादी दृष्टि ध्वनित होती है - कविता में सबसे ज्यादा ध्यान वे बिम्ब पर देते हैं।

विजयदेव नारायण साही ने कविता को कवि-भावनाओं तथा परिवेशगत संघर्ष की उपज माना। उन्होंने स्वीकार किया कि यह संघर्ष पहले भी था लेकिन पुराना कवि अधिक 'विदग्ध' था, वह इस संघर्ष से बचने के उपाय जानता था - वह मानसिक तनावों से बच जाता था। लेकिन आज का कवि अपने परिवेश के साथ द्वंद्वमय स्थिति में है। नये परिवेश के कारण ही अनुभूति की जटिलता और संवेदनात्मक उलझावों का समावेश बढ़ा हुआ है और यही आज की कविता का मूल आंतरिक तत्व है। साही जी ने 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक लेख में कहा - 'न सिर्फ कविता का कलेवर बदला है बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में भी फर्क आ गया है।...चेतना के जो तत्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूति के केंद्र में आ गए। और कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया।' (छठवाँ दशक, पृ.90) साही जी की इस बात को ग्रहण करते हुए डॉ.नामवर सिंह ने कहा कि अनुभूति की बनावट की भिन्नता को समझे बिना छायावादी 'स्वानुभूति' और नयी कविता की 'अनुभूतिगत भिन्नता' को स्पष्ट नहीं कर सकते। 'यही कारण है कि नयी कविता छायावाद के समान ही अनुभूति पर बल देते हुए भी भावों की शाश्वतता के प्रति उतनी आश्वस्त नहीं है। इसीलिए नये कवि अनुभूति से अधिक अनुभूति के परिवर्तित संदर्भ पर अधिक बल देते हैं। स्पष्टतया उनका बल रागात्मक संबंधों पर है।' (कविता के नये प्रतिमान, पृ.25) अपने निष्कर्ष पर प्रामाणिकता की मुहर लगाने के लिए नामवर जी को अज्ञेय याद आये। क्यों याद आये यह अलग से विचारणीय प्रश्न है पर अज्ञेय का वक्तव्य उन्होंने उद्धृत किया, 'यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले, प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा। यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान रखना होगा कि राग वही रहने पर भी

रागात्मक संबंधों की प्रणालियाँ बदल गई हैं और कवि का क्षेत्र रागात्मक संबंधों का क्षेत्र होने के कारण, इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है।....जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है वैसे-वैसे हमारे रागात्मक संबंध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा संबंध टूट जाता है।' (दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ.9) अज्ञेय समझ रहे थे कि पश्चिम में सृजन-प्रयोग चिंतन की जो नयी सोच शुरू हुई है उसका मूल स्वर रोमांटिक भावबोध का विरोधी है। स्वयं टी.एस.एलियट का पूरा स्वर एण्टी-रोमांटिक है। उनकी काव्य-परिभाषा इसका प्रमाण है। एलियट कहते हैं कि 'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है वरन् व्यक्तित्व से पलायन है।' यह परिभाषा रोमांटिकों के आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत का सीधा निषेध करती है और कविता के निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत की स्थापना। 'व्यक्तित्व से पलायन' का अर्थ है स्व-पर (अपने-पराए) की भेद-बुद्धि से मुक्त हो जाना। इसे ही भारतीय काव्यशास्त्र में 'निज मोह संकट निवारणता' कहा जाता रहा है।

टी.एस.एलियट तथा आई.ए.रिचर्डस के काव्य-चिंतन में 'नयी समीक्षा' ('न्यू क्रिटिसिज्म') के बीज हैं। न्यू क्रिटिसिज्म ने माना है कि कविता एक शाब्दिक निर्मिति है - 'वर्बल आइकोन (Verbal Icon)' है। इसीलिए काव्य-भाषा को आधार बनाकर कविता पर विचार हुआ। नयी समीक्षा में चिंतन का केंद्र 'कवि' नहीं है, 'कविता' है - कविता की पाठ विश्लेषण प्रक्रिया है - काव्य भाषा है - कलाकृति है। काव्य-भाषा को आधार बनाकर कविता पर जान क्रो रैन्सम, एम्पसन, एलेन टेट, पाल वेलेरी, माइकेल राबर्टस, क्लीन्थ ब्रुक्स, आदि ने कहा कि कविता भाषा की संभावित क्षमताओं का संधान है। कविता के अर्थ-संधान की मूल समस्या भाषा की समस्या है। हिंदी आलोचना में 'न्यू क्रिटिसिज्म' के पुरोधा हैं - अज्ञेय। उन्होंने अपने अनेक लेखों-कविताओं में यह बात बार-बार दुहराई है कि काव्य शब्द है - शब्द का संस्कार ही कृतिकार को कृती बनाता है। अज्ञेय के इस विचार को **डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने 'भाषा और संवेदना', 'अज्ञेय : आधुनिक रचना की समस्या' में उठाया है कि काव्य शब्द है और कविता को परखने का सर्वाधिक प्रामाणिक प्रतिमान है काव्य-भाषा। डॉ.साही, डॉ. चतुर्वेदी तथा रमेश चन्द्र शाह ने काव्य-भाषा के इसी पक्ष का समर्थन किया है।

नये काव्य-चिंतन के इसी दौर में छायावाद के आलोचक **डॉ.नगेन्द्र** ने 'कविता क्या है' शीर्षक लेख लिखा। इस लेख में डॉ.नगेन्द्र के छायावादी काव्य-संस्कार उभरकर सतह पर आ गए। रस-सिद्धांत को काव्य का शाश्वत काव्य-प्रतिमान मनवाने के चक्कर में उन्होंने अज्ञेय की कविता 'सोन मछली' का रस-सिद्धांत के संदर्भ में व्याख्या की। दिलचस्प बात यह है कि 'सोन मछली' कविता का शब्दार्थ-मर्म अज्ञेय स्वयं 'प्रतीक और सत्यान्वेषण' टिप्पणी में समझा चुके थे। रस-सिद्धांत का खंडन करते हुए वे कह चुके थे कि रस का आधार था - अद्वंद्व और चित्त की समाहिति, जबकि नयी कविता का आधार है - तनाव, द्वंद्व। अज्ञेय की 'सोन मछली' कविता -

हम निहारते रूप
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली
रूप तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

इसपर अज्ञेय की टिप्पणी है - 'जीवन....स्वप्नों और आकारों का एक रंगीन और विस्मय भरा पुंज। हम चाहें तो उस रूप से ही उलझे रह सकते हैं, पर रूप का यह आकर्षण भी वास्तव में जीवन के प्रति हमारे आकर्षण का प्रतिबिंब है। जीवन को सीधे न देखकर हम एक काँच में से देखते हैं तो हम उन रूपों में ही अटक जाते हैं जिनके द्वारा जीवन अभिव्यक्ति पाता है।' (आत्मनेपद, पृ.45) अज्ञेय की इस टिप्पणी का सहारा लेकर डॉ.नामवर सिंह ने कहा - 'डॉ.नगेन्द्र को 'हाँपती हुई' मछली 'थिरकती हुई' दिखाई देती है और लय-बोध का अतिरिक्त उत्साह 'जिजीविषा' शब्द में मछली की 'तरंगायित आकृति' के अनुरूप 'वलयित उच्चारण' तक सुन लेता है। क्या यह असंगति रूप और भाव को अलग-अलग करके देखने वाली द्वैत-दृष्टि का परिणाम नहीं?...स्पष्ट है कि नयी कविता के संदर्भ में शाश्वत तत्व के रूप में 'अनुभूति' का नाम लेना ही काफी नहीं है - नाकाफी ही नहीं, बल्कि भ्रामक है। अज्ञेय को प्रसाद के अत्यंत निकट मानते हुए भी श्री विजयदेवनारायण साही ने दोनों कवियों के दो ठोस उद्धरण देकर स्पष्ट किया कि 'अनुभूति' शब्द समान होने पर भी उसका अर्थ भिन्न हो गया और उसी के साथ कविता का मूल धर्म क्या है, इसकी परिभाषा भी।' (कविता के नये प्रतिमान, पृ.24)

विजयदेव नारायण साही ने छायावादी कविता की मनोभूमि और अनुभूति का प्रश्न नयी कविता की मनोभूमि और अनुभूति के बदलाव को समझाने के लिए उठाया।'कामायनी' के बाद हिंदी कविता का अगला चरण इसी प्रश्न से शुरू होता है जिस 'समरसता' को प्रसाद जी ने अनुभूति से दर्शन में बदल दिया उसे कैसे दर्शन से अनुभूति में बदला जाए। 'समरसता का दर्शन' या 'निर्वैयक्तिक अनुभूति'? इस प्रश्न को जिस व्यक्ति ने पूछा उसका नाम था - अज्ञेय।'(छठवाँ दशक, पृ.295) यही कारण है कि अज्ञेय हिंदी कविता के पहले प्रश्नाकुल आधुनिक कवि हैं - तर्कशील विवेक वयस्क बौद्धिक कवि। अज्ञेय ने कहा है कि कवि के सामने शब्द में नया अर्थ भरने की चुनौती रहती है क्योंकि निरंतर प्रयोग से शब्द में बासीपन आ जाता है। नया कवि वही है जो शब्दों में नए अर्थ की प्रतिपत्ति करे। अज्ञेय की इसी बात को साही जी ने इस ढंग से उठाया है कि 'मूल बात यह है कि नयी कविता 'अभिव्यक्ति' नहीं है - 'निर्मिति' है। इस निर्मिति में नयी कविता 'तरंग के रूप को स्ट्रक्चर ' में बदल देती है जैसे हीरे का क्रिस्टल हो।' इस दृष्टि को और स्पष्ट करने के लिए साही जी ने 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक निबंध में कहा -'नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अंतर्भुक्त ही है कि न सिर्फ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है या नये प्रतीकों या बिंबों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही फर्क आ गया है। लेकिन बहस में इस पर बल कम दिया गया है।' (छठवाँ दशक) इस पूरी बहस में यह माना गया कि काव्यानुभूति के बदलते हुए स्वरूप को समझे बिना और नयी कविता की बनावट या संरचना को ध्यान में रखे बिना आज कविता की कोई भी परिभाषा अधूरी रहेगी।

1.8 निष्कर्ष

काव्य लक्षण परम्परा की बहसों पर ध्यान केंद्रित करते हुए इम कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों पर पहुँच सकते हैं -

1. काव्यार्थ शब्द में है या अर्थ में है या दोनों में है। इस वाद-विवाद में ज्यादातर आचार्यों ने शब्द परंपरा का समर्थन किया है।
2. अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस जैसे पुराने प्रतिमान जिस तरह पुरानी कविता के लिए कारगर थे आज नहीं रहे हैं। यहाँ तक कि रस अब कविता के लिए आवश्यक नहीं रह गया है।
3. रोमांटिक कवि और काव्य जहाँ 'भावकुता', 'कल्पना', 'सहृदयता' का वृत्त बनाता है वहाँ नया काव्य-सृजन रोमांटिक भाव-बोध का निषेध करता है।
4. काव्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता अंततः शब्द की निर्वैयक्तिकता है। इस प्रकार काव्य एक निर्वैयक्तिक शब्द-व्यापार है।
5. काव्य वैयक्तिक प्रयास होते हुए भी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। इस सांस्कृतिक प्रक्रिया में सामाजिक-आर्थिक-नैतिक-राजनीतिक प्रक्रियाएँ भी विद्यमान रहती हैं।
6. कविता हृदय की मुक्तावस्था कभी थी किंतु आज वह हृदय से ज्यादा बुद्धि-प्रेरित है। इसीलिए हम उसे बुद्धि की मुक्तावस्था कह सकते हैं।
7. कविता आत्म की अभिव्यक्ति नहीं है, आत्म का निषेध है। आत्म के निषेध का अर्थ है निर्वैयक्तिक व्यापार - आत्मदान, आत्म-उन्मोचन और अहं का समर्पण।
8. कविता शाब्दिक निर्मिति है। मूल बात यह कि काव्य 'अभिव्यक्ति' नहीं 'निर्मिति' है। निर्मिति है इसलिए कलाकृति की 'संरचना' पर हमें ध्यान देना पड़ता है।'काव्य-भाषा' ही वह चीज़ है जिसमें काव्यार्थ की, नए भाव-बोध की निष्पत्ति होती है।
9. काव्य लक्षणों में जो परिवर्तन घटित होते रहे हैं उसका कारण काव्य की रागात्मकता न होकर रागात्मक संबंधों की बदलती प्रणालियाँ हैं। बाह्य-आंतरिक वास्तविकता से गहरा रिश्ता इन रागात्मक प्रणालियों के बदलाव से ही निर्धारित होता है।
10. जैसे-जैसे जीवन जटिल हुआ है, काव्य में भी जटिलता बढ़ी है। इस काव्यानुभूति की जटिलता का कवि-कर्म पर गहरा असर पड़ा है। इसलिए काव्यानुभूति की बनावट पर विचार किए बिना हम कविता को परिभाषित नहीं कर सकते।
11. आज कविता हमें रिझाती नहीं है - रमणीय अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती। वह हमें खिजाती है - हमारा चैन तोड़ देती है। शब्द और अर्थ का तनाव, सृजन में नए अर्थ-सौंदर्य और अर्थ-

सदर्भ को जन्म देता है। वस्तु और रूप के बीच एक द्वंद्वात्मक रिश्ता है और रिश्ता काव्य की समग्रता-अखण्डता-अन्विति की अंतर्योजना पर केंद्रित है।

1.9 शब्दावली

प्रत्यय - विचार, सम्मति, राय

पूर्व-मीमांसा - जैमिनी कृत वह वैदिक दर्शन जिसमें वेदों की कर्मकांड संबंधी बातों का निर्णय किया गया है।

उत्तर-मीमांसा - वेदांत दर्शन, अद्वैतवाद का दर्शन। वेदों के उत्तरार्द्ध के दार्शनिक विवेचन जिनमें महर्षि वादरायण व्यास ने ब्रह्म विषयक विचारों को छाँटकर ब्रह्म-सूत्रों की रचना की और जिनकी शंकराचार्य आदि ने वेदांत के नाम से पूर्ण प्रतिष्ठा की।

अंतर्भूत - शामिल

अतींद्रिय - अगोचर, अव्यक्त, जिसका अनुभव इंद्रियों द्वारा न हो सके।

आत्मातिक्रमण - आत्मा की उदात्त अवस्था

व्यवच्छिन्न - पृथक किया हुआ

निबद्ध - बँधा हुआ

वक्र - टेढ़ा, बाँका

विवक्षित - जिसकी आवश्यकता या इच्छा हो, अपेक्षित

बंकिया - बाँकापन

परवर्ती - बाद में आने वाला या होने वाला

नैयायिक - न्यायशास्त्र जानने वाला

विषयगत - वस्तुपरक (Objective)

विषयिगत - आत्मपरक (Subjective)

अवांतर - बीच का, अंतर्गत

संविद विश्रांति - चेतना या अनुभूति की विश्रान्ति

प्रतीयमान अर्थ - व्यंजना द्वारा ध्वनित अर्थ

रीतिवाद - लीकबद्ध पद्धति, रूढ शास्त्रवाद

ज्ञानयोग - ज्ञान की प्राप्ति द्वारा मोक्ष का साधन

भावयोग - भक्ति द्वारा मोक्ष का साधन

श्रेयमयी - मंगलदायक, कल्याणकारी

प्रेय - प्रिय

अप्रतिहत - बिना रोक-टोक का, जिसकी हार या हानि न हुई हो

वागर्थ प्रतिपत्ति - शब्द और अर्थ के बीच नया संबद्ध स्थापित करना

लघु मानव - लघु मानव नयी कविता का एक पारिभाषिक शब्द है। नयी कविता में प्रतिपादित लघु मानव सिद्धांत का अर्थ है - आम आदमी की अनंत शक्ति और संभावनाओं में विश्वास।

विभावादि - विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि।

1.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण पर विचार कीजिए।
2. आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण पर विचार कीजिए।
3. पंडितराज जगन्नाथ के काव्य लक्षण की विशेषताओं का निरूपण कीजिए।
4. हिंदी की चिंतन परंपरा में काव्य लक्षण दृष्टि की चर्चा कीजिए।

इकाई 2 काव्य प्रेरणा और काव्य हेतु

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 काव्य सृजन किसी न किसी प्रेरणा और हेतु का परिणाम
2.3 संस्कृत काव्यशस्त्र में काव्य हेतु पर चर्चा
2.4 प्रतिभा
  2.4.1 प्रतिभा के कार्य
  2.4.2 क्या प्रतिभा काव्य-सर्जना का एक मात्र मूल कारण है?
  2.4.3 व्युत्पत्ति
  2.4.4 अभ्यास
  2.4.5 भावयित्री-प्रतिभा की उपादेयता
2.5 प्रतिभा और कल्पना
2.6 पश्चिम में काव्य प्रेरणा संबंधी चर्चा
  2.6.1 काव्य प्रेरणा : दैवी प्रेरणा
  2.6.2 अनुकरण सिद्धांत
  2.6.3 प्रतिभास सिद्धांत
  2.6.4 आत्माभिव्यक्ति का सिद्धांत
  2.6.5 इच्छा-पूर्ति का सिद्धात
  2.6.6 अधिकार भावना का सिद्धांत
  2.6.7 प्रजातीय स्मृति का सिद्धांत
2.7 हिंदी में काव्य प्रेरणा और काव्य हेतु चिन्तन-परम्परा
2.8 समाहार और निष्कर्ष
2.9 शब्दावली
2.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि रचनाकार सृजन की ओर क्यों प्रेरित होता है;
- भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य हेतु विषयक चिंतन पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- सृजन कर्म में प्रतिभा के महत्व और उपादेयता की चर्चा कर सकेंगे;
- पश्चिम के काव्य प्रेरणा संबंधी विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख कर सकेंगे; और
- हिंदी में काव्य हेतु और काव्य प्रेरणा संबंधी विवेचन के विषय में जानकारी दे सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप काव्य के लक्षण यानी उसके स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। साहित्य क्या है - यह जान लेने के बाद आपके मन में सहज सवाल उठ सकता है कि साहित्य की रचना क्यो होती है। क्या कारण हैं जो कवि अथवा रचनाकार को रचना की ओर प्रेरित करते हैं। प्रस्तुत इकाई इसी प्रश्न का समाधान है। वस्तुतः यह प्रश्न प्राचीन काल से अब तक विद्वानों के मन में कौंधता रहा है कि सृजन का कारण क्या है, किस बात या स्थिति ने दुनिया भर के कवियों और लेखकों को रचनाकर्म की ओर मोड़ा है। प्राचीन और आधुनिक भारतीय तथा पश्चिमी आचार्यों के काव्य हेतु और काव्य सृजन प्रेरणा विषयक चिंतन-मनन की जानकारी आपको इस इकाई में मिलेगी।

2.2 काव्य सृजन किसी न किसी प्रेरणा और हेतु का परिणाम

देश-विदेश के काव्य-चिंतन अथवा सृजन-प्रक्रिया से संबंधित चिंतन में यह प्रश्न अत्यंत रोचक, महत्वपूर्ण किंतु विवादास्पद रहा है कि काव्य-सृष्टि कैसे और किन कारणों से होती है। भारतीय

काव्यशास्त्र में कवि-शिक्षण के अंतर्गत कवि में काव्य-निर्माण की सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले साधनों को 'काव्य हेतु' अथवा 'काव्य के कारण' कहा गया है। रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन ने 'काव्य हेतु' के स्थान पर 'काव्यांग' शब्द का प्रयोग किया है। भामह ने काव्य हेतु के रूप में केवल 'प्रतिभा' का उल्लेख किया है। उनके मत के अनुसार गुरु-उपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्र का अध्ययन कर सकता है, परंतु काव्य का निर्माण तो कोई प्रतिभावान ही कर सकता है। आगे चलकर **प्रतिभा, शास्त्रज्ञान (व्युत्पत्ति)** तथा **अभ्यास**, तीनों को 'काव्य-कारण' कहा गया। राजशेखर 'काव्य हेतु' को 'काव्य-माता' कहते हैं तथा श्यामदेव और आचार्य मंगल के मतों का उल्लेख करते हैं। श्यामदेव के अनुसार, 'काव्य-कर्म में कवि की समाधि' (चित्त की एकाग्रता) सर्वोत्कृष्ट साधन है तथा आचार्य मंगल 'अभ्यास' को प्रधान कारण मानते हैं। राजशेखर इन दोनों के मतों को समेट कर 'समाधि' एवं 'अभ्यास' से उत्पन्न 'शक्ति' को ही 'काव्य-कारण' स्वीकार करते हैं तथा उसे 'प्रतिभा' तथा 'व्युत्पत्ति' से बहुत दूर बताते हैं। इन सभी आचार्यों ने दैवी-प्रेरणा को 'काव्य हेतु' में स्थान दिया है। अतः भारतीय काव्यशास्त्र में पाश्चात्य विद्वानों की भाँति 'काव्य प्रेरणा' की अलग से चर्चा नहीं की गई है। भारतीय दृष्टि का सार यह कि काव्य ईश्वर-प्रदत्त 'प्रतिभा' का वरदान है।

पश्चिम के विद्वानों ने कवि या कलाकार पर विशेष ध्यान केंद्रित करते हुए 'काव्य प्रेरणा' पर विस्तार से चिंतन किया है। प्रायः काव्य प्रेरणा (पोयटिक इन्सपिरेशन) को दैवी-प्रेरणा-सिद्धांत (थियरी ऑफ डिवाइन इन्सपिरेशन) से सम्बद्ध करके उनका चिंतन आगे बढ़ा है। मनोविज्ञान में 'प्रेरणा' के बजाय ज्यादातर उत्तेजना (स्टिमुलस), अनुप्रेरणा (मोटिवेशन), प्रेरकवृत्ति (ड्राइव इम्पल्स) शब्द व्यवहार में लाए जाते रहे हैं। काव्य और कला चर्चा के अंतर्गत 'प्रेरणा', 'प्रेरणा-क्षण', 'प्रेरक वस्तु', 'प्रेरणा प्रकृति' आते हैं। कोई मार्मिक घटना, मार्मिक प्रसंग-प्रकरण-तथ्य-प्रकृति, कोई मानवीय साहचर्य, कोई युग, युग-पुरुष, युग-प्रवृत्ति और आंदोलन, कोई विचारधारा सीधे या परोक्ष, सम्बद्ध या असम्बद्ध रूप से हमें प्रेरित कर सकती हैं। उसके प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उपस्थित होने के 'प्रतिक्रियात्मक काल' (रियेक्शन टाइम) को 'प्रेरणा का क्षण' या 'प्रेरक अवधि' कहा जा सकता है। इस प्रकार, प्रेरणा उत्तेजना, प्रतिक्रिया, साहचर्य की असाधारण 'चित्त-दशा' है।

इस 'प्रेरणा दशा' के कुछ खास लक्षण हैं :

1. ऐसा तीव्र आवेश या आवेग जो हमें अवश या विवश कर दे,
2. आत्म-विस्मृति की वह अवस्था जिसमें हमें विषय और परिवेश का ध्यान न रहे,
3. एक अपूर्वता, एक विशेष प्रकार का उन्माद, आवेश, तन्मयता, तादात्म्य,
4. समानुभूति का क्षण,
5. भाव-विभोरता, प्रबल मानसिक दशा, भावों की प्रबल धारा की आकस्मिकता,
6. अवचेतन मन का मुक्त प्रवाह,
7. भावों का अजनबीपन, आत्म-निर्वासन, आत्म से पलायन, व्यक्तित्व का माध्यम मात्र रह जाना आदि की रचना-धर्मिता।

प्रेरक दशा में चेतन-अवचेतन के भाव इतने प्रबल होते हैं कि रचनाकार की इच्छा अथवा माध्यम का अतिक्रमण करते हुए 'निष्पत्ति' करते हैं या नया रचते हैं। रचना-प्रक्रिया के दौरान जो मानसिक भाव-पुंज सक्रिय हो जाते हैं - वे प्रायः अजनबी होते हैं। मिथकों-बिम्बों-प्रतीकों-लयों-फैण्टेसियों में 'अपूर्व' रचते हैं। प्रतिभा या कल्पना खण्ड-खण्ड अनुभवों को अखण्ड एकाग्र कर संश्लिष्ट रूप देती है। कहना न होगा कि सृजन-प्रक्रिया के दौरान प्रेरणा-दशा, साधारण तथा प्रतिभाशाली दोनों प्रकार के रचनाकारों की भाव-सम्पत्ति होती है। प्रेरणा बहुधा 'असाधारण चित्त दशा' उत्पन्न करती है जिसमें 'आकस्मिक परिस्थिति' का हाथ होता है।

कभी-कभार 'आकस्मिक परिस्थिति' और 'असाधारण चित्त दशा' में से यदि एक अनुपस्थित रहती है तो भाव-प्रवाह मंद पड़ जाता है और वह बदलते-विकसित होते, संशोधित-प्रौढ़ होते चलते हैं। ऐसी परिस्थिति में 'असाधारणता' कम हो जाती है और रचना-क्षणों की अवधि अप्रत्याशित ढंग से सुदीर्घ हो जाती है - जैसे 'कामायनी' लगभग छह वर्षों में लिखी गई। तात्पर्य यह कि 'संचित ऊर्जा' को निर्बाध द्वार न मिलकर एक सृजन-दिशा-विशेष में बढ़ने का सृजन-विवेक मिलता है। प्रायः सृजनात्मक प्रतिभाएँ दो प्रकार की होती हैं - (1) रोमानियत प्रधान (Romantic); और (2) शास्त्रीयता प्रधान (Classical)। रोमानियत प्रधान प्रेरणा की 'अनुप्रेरणाएँ' ऐन्द्रिक तथा भावात्मक होती है और शास्त्रीयता

प्रधान प्रतिभा की प्रेरणा संयत, स्मृति-प्रधान तथा मूल्य-बोधक होती है। यदि रचनाकार में महान प्रेरणा का प्रबल ज्वार नहीं है तो बड़ा रचनाकार भी सामान्य कृति ही दे पाता है। किसी महान प्रेरणा की वशवर्ती होकर ही सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की उदात्त प्रतिभा 'राम की शक्ति पूजा' या 'तुलसीदास' जैसी कृतियों को सृजित कर पाती हैं। इसलिए 'काव्य प्रेरणा' की 'काव्य-प्रतिभा' से अलग महिमा है। दोनों के आकस्मिक संयोग से ही कालजयी कृति का सृजन हो पाता है।

भारतीय तथा पाश्चात्य विचारक इस बात पर प्रायः एक मत रहे हैं कि काव्य का उद्भव दैवी-अनुग्रह अथवा दैवी-प्रेरणा से होता है। ईश्वरीय कृपा अथवा अनुग्रह, प्रतिभा के रूप में प्रकट होता है - इसके बिना काव्य-सृजन संभव ही नहीं है। यह केवल शास्त्रज्ञ आचार्यों का ही मत नहीं है, सृजन क्षेत्र में सक्रिय सर्जकों का भी मत है कि ईश्वर की असीम कृपा होने पर ही प्रतिभा मिलती है, उसमें सृजन-स्फुरण होता है और उसी की कृपा से कवि-कर्म के मार्ग की बाधाएँ नष्ट होती हैं। इसीलिए कविगण काव्य के आरंभ में ही सरस्वती या वाग्देवी (पश्चिम में विद्या की देवी 'म्यूज') का आह्वान करते हैं तथा मंगलाचरण के रूप में विभिन्न देवी-देवताओं से कृपा-याचना करते हैं। यूरोपीय साहित्य में महान कवि होमर ने इस परम्परा का सूत्रपात किया है। तब से बहुत से रचनाकार इस परम्परा का पालन करते रहे हैं। पश्चिमी विचारकों तथा रचनाकारों ने 'काव्य प्रेरणा' (पोयटिक इन्सपिरेशन) के बारे में कई कोणों से गंभीरतापूर्वक विचार किया है।

भारतीय काव्य-चिंतन परंपरा ने दैवी-प्रेरणा या प्रेरणा को प्रतिभा में ही निहित मानकर उसका अलग से विवेचन नहीं किया। हालाँकि यहाँ कवियों द्वारा रचना के आरंभ में सरस्वती, गणेश अथवा इष्टदेव की वंदना की परम्परा बहुत पुरानी है। प्रबंध कांव्य, नाटक आदि के सृजन-कर्म की सफलता के लिए कालिदास 'रघुवंश' के आरंभ में ही 'वागर्थ प्रतिपत्ति' के लिए जगत के माता-पिता पार्वती-महादेव की वंदना करते हैं और भास अपने नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' में 'वसन्तकभ्रोभुजौपाताम' कहकर नमस्कार करते हैं। लघु-काव्यों में भी दैव-आराधना-कवित्व-शक्ति-याचना के उदाहरण बराबर मिलते हैं। राम, कृष्ण, शिव, पार्वती, सरस्वती, गणेश, विष्णु आदि की स्तुति का विशेष विधान रहता है। काव्य की अधिष्ठात्री देवी माँ सरस्वती से आलोक और प्रबोध के लिए कवि हाथ फैलाता है। मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत' के आरंभ में वीणा-पाणि सरस्वती से कहते हैं - 'अयि दयामयि देवि सुख दे शारदे / इधर भी निज वरदपाणि पसार दे।' आधुनिक हिंदी कविता के सबसे बड़े विद्रोही कवि निराला ने 'वर दे वीणा वादिनी वर दे' जैसी बहुत-सी रचनाएँ की हैं। तुलसीदास 'रामचरितमानस' का आरंभ सरस्वती-गणेश वंदना से करते हैं -

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ।।

शास्त्र-ज्ञान से 'व्युत्पत्ति' या बहुज्ञता तथा अभ्यास से निपुणता तो प्राप्त हो जाती है किंतु कवि का अंतःकरण माँ शारदा की कृपा से ही आलोकित होता है, वही सृजन-शक्ति में दिव्य-दृष्टि देती है। सरस्वती की दया से ही काव्य में सौंदर्य और आह्लाद का जन्म होता है। सृजन-प्रक्रिया रहस्यमयी होने के कारण ही अलौकिक दैवी-प्रेरणा से जोड़ी गई है। कवि मानते हैं कि किसी अलौकिक दिव्य-शक्ति की प्रेरणा से ही काव्य-रचना संभव हो पाती है -

नियतिकृतनि यमारहितांह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।

मंगलाचरण, प्रार्थना, मंत्र-उच्चारण की इस दीर्घ परम्परा से स्पष्ट है कि कवि के लिए किसी अलौकिक विराट-शक्ति की कृपा अपेक्षित है। भारतीय मानस मानता आ रहा है कि आदि-कवि के मुख से निकला श्लोक क्रौंच-वध को देखकर उत्पन्न करुणा या दुःख की ही चरम अनुभूति नहीं था, उसमें विराट-शक्ति की प्रेरणा भी सक्रिय थी। यह सरस्वती की कृपा ही है कि 'लाख पाखर निराखर के मुख तैं मधुर मंजु आखर कढ़त हैं' यानी निरक्षर व्यक्ति के मुख से भी काव्यात्मक शब्द फूट पड़ते हैं।

2.3 संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य हेतु पर चर्चा

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य हेतु चिंतन की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। इस विचार-चर्चा में सभी प्रमुख आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से हिस्सेदारी की है। यह प्रश्न कई कोणों से उठाया गया है कि वे कौन-से उपादान हैं जिनपर अधिकार करके कवि एक सामान्य-सा प्राणी दिखाई देते हुए भी सामान्य से अलग दिखाई देता है। इसी प्रश्न के समाधान के लिए आचार्यगण 'काव्य हेतु' पर विचार करने को प्रवृत्त हुए हैं। इस संदर्भ में सभी प्रमुख आचार्यों ने तीन उपादानों या कारणों की बात की है

(1) प्रतिभा
(2) व्युत्पत्ति; और
(3) अभ्यास।

इन तीनों में प्रतिभा की महत्ता सर्वस्वीकृत है। अतः भारतीय काव्यशास्त्र में इसपर विस्तृत विवेचन हुआ है। काव्य-सृजन में व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की क्या भूमिका है या कितना योग है तथा प्रतिभा से उनका क्या संबंध है? यह निरंतर विमर्श का विषय रहा है।

2.4 प्रतिभा

'प्रतिभा' से तात्पर्य है - काव्य-सृजन शक्ति। इसलिए 'प्रतिभा' का एक नाम 'शक्ति' भी है - 'शक्ति प्रतिभानम्'। (ध्वन्यालोचन, पृ.346) **आचार्य अभिनवगुप्त** ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के महत्व पर विचार करते हुए कहा है कि काव्य-सृजन में अभ्यासादि की अपेक्षा प्रतिभा की ही निर्विवाद निर्णायक भूमिका रहती है और जिसे 'व्युत्पत्ति' कहा जाता है वह कोई अन्य वस्तु नहीं; बल्कि प्रतिभा का ही एक रूप हैं; इस प्रकार प्रतिभा ही शक्ति है।' अभिनवगुप्त के इस विचार का आगे चलकर पंडितराज जगन्नाथ ने न केवल पूरा समर्थन किया है बल्कि व्युत्पत्ति और अभ्यास को चर्चा-योग्य तक नहीं समझा - 'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा' अर्थात् कविगत प्रतिभा ही काव्य का प्रधान हेतु है या प्रधान कारण है।

प्रो.निर्मला जैन ने 'रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक अपने शोध-प्रबंध में 'सृजन-शक्ति' या प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य की सृजन-शक्ति पर प्रायः 'काव्य हेतु' प्रकरण के अंतर्गत विचार करने की परम्परा रही है। आचार्यों ने काव्य हेतु के रूप में प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीन तत्वों को मान्यता दी है जिनमें प्रायः सभी ने प्रतिभा को प्रधान माना है। किंतु रस-सिद्धांत के समर्थक आचार्यों ने काव्य हेतु के रूप में एकमात्र प्रतिभा को ही स्वीकार किया है। यद्यपि रस-सम्प्रदाय के बाहर के आचार्यों में वामन ने भी प्रतिभा को कवित्व का बीज (कवित्वबीजं प्रतिभानम्) कहा है तथापि प्रतिभा को जो महत्व रस-सिद्धांत में प्राप्त है, वह संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्य सिद्धांतो में विरल है। अभिनवगुप्त ने जिस कविगत संविद को रस का बीज कहा है वह वस्तुतः कवि प्रतिभा का ही दूसरा नाम है।' (पृ.393)

वास्तव में, काव्य-विद्या के स्फुरण की आदि जननी है - प्रतिभा। यही काव्य-सृजन की मूल एवं बीज-रूपा आद्याशक्ति है जिसके अभाव मे श्रेष्ठ सृजन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। काव्य-सर्जना की आद्याशक्ति के रूप में, प्रतिभा का जो विवेचन किया जाता रहा है वह केवल काव्यशास्त्र तक सीमित न रहकर दर्शनशास्त्र तथा अध्यात्म-विद्या में भी व्याप्त है। रसवादी कश्मीरी शैवदर्शन में प्रतिभा को 'विश्व सर्जना की मूल शक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के साथ-साथ 'स्वतंत्र' शक्ति का उल्लेख 'घटकर्परकुलक विवृति' में किया है और कहा है 'इस प्रकृति मधुर स्वातंत्र्य रूप प्रतिभा-शक्ति के कारण ही कालिदास जैसे कवि के काव्य में सर्जन-संबंधी नियमों का अतिक्रमण भी सुभग-भाव में परिणत होता दिखाई देता है।' प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की एक शाखा 'कुल सिद्धांत' के प्रतिपादक **आचार्य महेश्वरानंद** ने 'महार्थ मंजरी' नामक ग्रंथ में 'भाषा-शक्ति' के रूप में एक प्रकार से प्रतिभा-शक्ति की ही महत्व-प्रतिष्ठा की है। उन्होंने 'भाषा' को सृष्टि के पंच तत्वों में एक प्रमुख तत्व मानकर उसे 'प्रतिभा', 'स्वातंत्र्य' तथा 'चित् शक्ति' का पर्याय माना है। भाषा-शक्ति चिन्मयी होने के कारण स्वभावतः शिव के साथ एकात्म्य-भाव रखती है। 'कुल सिद्धांत' की मान्यता में 'प्रतिभा' की उच्चतम आध्यात्मिक भूमिका 'परा प्रतिभा' है जिसे 'कौलिकी शक्ति' का नाम दिया गया है। इसे ही व्याकरणाचार्यों ने व्याकरण-दर्शन की 'परा-शक्ति' की कोटि में स्थान दिया है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'परा-प्रतिभा' के नाम से जिस 'चिन्मयी शक्ति' का विचार-विवेचन किया है वह 'परमानंदरूप परा' और 'काव्योत्सभूत प्रतिभा' का सुंदर सामंजस्य दर्शन है। काव्य-प्रतिभा के अंतर्गत काव्य में अभिव्यक्त होने वाले समस्त काव्य उसी प्रकार अधिष्ठित हैं जिस प्रकार 'परा प्रतिभा' में सभी पदार्थ अपने अनंत रूपों के साथ प्रतिबिंबित होते हैं। 'परा प्रतिभा' की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि वह विश्व के समस्त पदार्थों के वैचित्र्य को अंतर्भुक्त रखती है और उसमें **पश्यन्ती-मध्यमा-बैखरी आदि वाक् शक्तियों** का भी समाहार रहता है। अभिनव ने 'तंत्रालोक' में 'परम शक्ति' के रूप में प्रतिभा का विमर्श-विवेचन करते हुए उसे 'प्रातिभ-ज्ञान' का भी पर्याय माना है। यहाँ 'प्रातिभ-ज्ञान'

का अर्थ है - 'महाज्ञान' तथा इस प्रातिभ-ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति को 'चिन्तामणि' नाम दिया है। आचार्य के मत से 'प्रातिभ-ज्ञान' अतीन्द्रिय और बुद्धि से परे है क्योंकि बुद्धि में एक प्रकार की जड़ता होती है जिसके कारण वह अपने विषय को इन्द्रिय ज्ञान तथा भेद के कारण ग्रहण करती है जबकि प्रतिभा का 'ज्ञेय विषय' के साथ अभेद संबंध है। वह बुद्धि से भिन्न 'स्वयं चित्त' अथवा 'संविद' का पर्याय है। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति 'विवेक' के द्वारा 'शुद्ध विद्या' की उच्चतम भूमिका पर पहुँच जाता है। अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को भगवती शिवा-पार्वती का साक्षात रूप मानकर वंदना की है। प्रातिभ-शिवा में ऐसी उन्मीलन शक्ति है जिसके द्वारा क्षण-भर में विश्व-उन्मीलित हो जाता है। कवि-प्रतिभा अपनी सर्जनात्मकता के द्वारा नाम-रूपात्मक विश्व को प्रतिभासित करने में समर्थ है। पश्चिम में प्रतिभा के इसी रूप को 'कल्पना सिद्धांत' के अंतर्गत व्याख्यायित-विश्लेषित किया जाता रहा है।

काव्य-सर्जना की यह आद्याशक्ति ही वाक् तत्व की अधिष्ठात्री देवी है। भारतीय विचारधारा प्रतिभा का विवेचन एक 'नैसर्गिक शक्ति' तथा 'प्राक्तन संस्कार' के रूप में करती रही है। सामान्य व्यक्ति की प्रतिभा माया के आवरणों से आच्छन्न रहती है पर नैसर्गिक प्रतिभा-प्राप्त कवियों की अंतःप्रज्ञा पर इस प्रकार का कोई आवरण नहीं रहता। 'प्रतिभा' की लोकोत्तरता पर विचार करते हुए आचार्य महिमभट्ट ने उसे शिव के तृतीय नेत्र के तुल्य कहा है। सूर्य चन्द्र शिव के दो नेत्र हैं तीसरा नेत्र है - अग्नि। कवि अग्निधर्मा होता है, वह अंधकार को चीरता है - त्रिकालदर्शी हो जाता है। उसे 'महाकाल' की यह शक्ति प्राप्त है।

राजशेखर ने प्रतिभा के दो भेद किए हैं - (1) कारयित्री प्रतिभा; और (2) भावयित्री प्रतिभा। कारयित्री प्रतिभा कवि की प्रतिभा है जो काव्य-सृजन में प्रवृत्त होती है। भावयित्री प्रतिभा काव्य के पाठक-दर्शक, रसज्ञ-सामाजिक-सहृदय की प्रतिभा है जिसके द्वारा वह काव्यार्थ को ग्रहण करता है, मूल्यांकन करता है। वस्तुतः भावक की भावयित्री प्रतिभा के कारण ही 'कवि-व्यापार-तरु' की सफलता का पता चलता है।

प्रतिभा एक खास अर्थ में **'प्रज्ञा'** का पर्याय है। प्रायः विचारकों ने प्रज्ञा के माध्यम से ही प्रतिभा का परिचय कराया है। प्रतिभा के तीन रूप हैं - (1) स्मृति, (2) मति; और (3) प्रज्ञा। स्मृति अतीत विषय का स्मरण करने वाली बुद्धि-विशेष का नाम है। यही 'परम्परा' को धारण करती है। वर्तमान का बोध कराने वाली बुद्धि का नाम 'मति' है तथा अनागत या भविष्य का संकेत देने वोली बुद्धि 'प्रज्ञा' है। राजशेखर ने 'प्रज्ञा' को 'भविष्य-बुद्धि' से सम्बद्ध किया है किंतु 'काव्य-प्रकाश' के टीकाकार विद्याधर चक्रवर्ती ने 'प्रज्ञा' को 'त्रैकालिकी' घोषित किया है। तीनों कालों में नूतनता की उन्मेष-शालिनी प्रज्ञा ही प्रतिभा है - 'ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकीमता'।

2.4.1 प्रतिभा के कार्य

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने प्रतिभा के स्वरूप परिचय के लिए 'प्रतिभा' के कार्यों पर विचार किया है। सुविधा के लिए यहाँ हम आचार्यों के प्रतिभा से संबंधित लक्षणों को देख सकते हैं -

भट्टतौत	-	**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मतः।** (काव्य-कौतुक)
अभिनवगुप्त	-	**(1) प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।** (ध्वन्यालोक-लोचन) **(2) प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेख शालित्वम।**
मम्मट	-	**शक्ति कवित्व-बीजरूपः संस्कार विशेषः।** (काव्य-प्रकाश)
वाग्भट्ट	-	**प्रसन्नयदनव्यार्थयुवत्युद्बोध विधायिनी।** **स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी।।** (वाग्भटालंकार)
राजशेखर	-	**या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतंत्रमुक्तिमार्गमत्यदपि तथा विधमधिहृदयं सपति सां प्रतिभा।** (काव्य-मीमांसा)

आचार्यों के इन संदर्भों से 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' करते हुए डॉ.प्रेमस्वरूप गुप्त ने प्रतिभा के कार्य-संबंधी निर्णय इस प्रकार दिए हैं -

1. प्रतिभा कवि में नूतन कल्पनाएँ जाग्रत करती है।
2. प्रतिभा कवि को भावलीन होने तथा सौंदर्यानुभूति करने की क्षमता प्रदान करती है।
3. प्रतिभा कवि की कल्पनाओं को गोचर रूप देने के लिए उल्लेखन अथवा चित्र विधान करती है।

4. प्रतिभा उल्लेखन अथवा चित्रण को संवेद्य बनाने के लिए विभिन्न उपकरण जुटाती है। ये उपकरण हैं - शब्द-चयन, अर्थ-योजना, नाना अलंकार, विभिन्न उक्ति-प्रकार आदि।

कहना न होगा कि काव्य-सृजन में प्रतिभा के कार्य अनंत हैं। 'अनंता' शक्ति होने के कारण ही वह 'पार्वती शक्ति' कही गई है। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा की वस्तुवादी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'सा काव्य-घटनानुकूल शब्दार्थोपास्थितिः।' अर्थात् प्रतिभा ही काव्य-घटना के अनुकूल शब्दार्थ को उपस्थित करने की सामर्थ्य रखती है। उनके मत से रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द ही काव्य हैं। यह रमणीयार्थ भाव-बोधक, कल्पना-बोधक तथा बौद्धिक चेतना का उद्‌बोधक होता है।

2.4.2 क्या प्रतिभा काव्य-सर्जना का एक मात्र मूल कारण है?

प्रश्न उठता है कि काव्य-सर्जना के मूल हेतु केवल प्रतिभा को ही स्वीकार किया जाए अथवा प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों के समीकृत स्वरूप को? प्रायः आचार्यों ने 'प्रतिभा' को प्रधान अंगी रूप में मान्यता देकर अन्य उपकरणों को अंग रूप में निरूपित किया है। अर्थात् प्रतिभा ही काव्य का मूल हेतु है तथा व्युत्पत्ति-अभ्यास आदि उसके सहायक हेतु हैं, पोषक हेतु हैं, संस्कारक हेतु हैं। प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का पोष्य-पोषक संबंध है। काव्य हेतु विवेचन के इस प्रसंग में सर्वप्रथम हमारा ध्यान आचार्य **भामह** के उस मत पर जाता है जिसमें वे कहते हैं गुरु के उपदेश से शास्त्र-अध्ययन तो जड़बुद्धि भी कर सकता है किंतु काव्य-सृजन कोई प्रतिभावान ही कर पाता है। व्युत्पत्ति में शास्त्र-ज्ञान, काव्य-विदुपासन रहते है और 'अभ्यास' काव्य-क्रियाधर (अभ्यास की निरंतरता) है। किंतु कवि प्रतिभा ही सर्वोपरि है, अभ्यास-निपुणता प्रतिभा को माँजते–चमकाते हैं। आचार्य वामन ने प्रतिभा के तीन रूप माने हैं - (1) लोक (2) विद्या; और (3) प्रकीर्ण। प्रकीर्ण के अंतर्गत छह बातें आती हैं -

1.	लक्ष्य तत्व	-	अन्य कवियों की कृतियों से परिचय
2.	अभियोग	-	काव्य-रचना का प्रयत्न
3.	वृद्ध सेवा	-	काव्य-कला के मर्मज्ञों की उपासना, उनकी संगति करना
4.	अवक्षेप	-	रचना में अधिकाधिक सही शब्द-चयन का अभ्यास
5.	प्रतिभान	-	कवित्व का बीज प्रतिभा
6.	अवधान	-	चित्त की एकाग्रता या चित्त-समाधि।

'विद्या' का अर्थ है - समस्त शास्त्रों के ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास तथा 'लोक' का अर्थ है लोक-वृत्त, लोक-ज्ञान। यहाँ भी प्रधानता 'प्रतिभा' को ही मिली है। अन्य कारण उसके उपकारक कारण हैं। भामह के बाद **दण्डी** ने कहा था - 'नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं निर्मलम्। अमन्दाश्चभियोगोऽस्थाः कारणं काव्य संम्पदः' अर्थात् दण्डी ने प्रतिभा की अपरिहार्यता को स्वीकृति नहीं दी। तीनों को समुदित रूप में काव्य का कारण कहा है। यदि एक बार पूर्व वासना की कृपा से प्राप्त प्रतिभा न भी हो तो भी व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से कवि-कर्म चल सकता है। **वामन** ने दण्डी के इस विचार का विरोध किया है और वामन के इस विचार की ओर ही रुद्रट झुकते हैं। **रुद्रट** ने प्रतिभा के दो भेद किए - (1) सहजा (2) उत्पाद्या। इनमें कवि के लिए जन्म-सिद्ध प्रतिभा ही काम्य है। वही काव्य का मूल हेतु है। उत्पाद्या प्रतिभा व्युत्पत्ति से उत्पन्न होती है तथा सहजा का संस्कार करती है। स्वर्ण को भी तो परिष्कृत करना ही पड़ता है।

आनन्दवर्धन ने शक्ति एवं व्युत्पत्ति (निपुणता) की तुलना में शक्ति या प्रतिभा की महत्ता का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा 'यदि कवि में प्रतिभा है तो उसे वर्ण्य-विषयों की कमी नहीं है। वह पुरातन, वर्णित विषयों को भी उठाकर उनमें नूतनता की सृष्टि कर सकता है और प्रतिभाहीन के लिए कवि-कर्म में कुछ नहीं रखा है।' (ध्वन्यालोक, पृ.316)

राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में श्यामदेव एवं आचार्य मंगल का मत दिया है पर आज इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। लेकिन राजशेखर ने 'काव्य हेतुओं' पर विस्तार से विचार किया और कहा कि उपयोग और उपादेयता की दृष्टि से प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति का संबंध सर्वोपरि है। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के आधार पर दो प्रकार के कवि होते हैं - (1) काव्य कवि (2) शास्त्र कवि। दोनों ही अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं। काव्य-कारण को लेकर कहा - 'साशक्तिः केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः।' हाँ, समाधि (चित्त की एकाग्रता) भीतरी प्रयत्न है और अभ्यास बाहरी प्रयास। दोनों ही 'काव्य शक्ति को उद्‌भासित करते हैं - शक्तिवान ही प्रतिभा को धारण करता है।' इस प्रकार, राजशेखर ने 'शक्ति' के

कारण का प्रयोग 'प्रतिभा' से ज्यादा बड़ा माना है। प्रतिभा तो शब्दों, अर्थों, अलंकारों, उक्ति-पथों तक अपने को सीमित रखती है पर शक्ति 'अदृश्य पदार्थों को प्रत्यक्ष' करने की सामर्थ्य रखती है। प्रतिभा के दो भेद माने - (1) कारयित्री प्रतिभा (2) भावयित्री प्रतिभा। वामन की भाँति राजशेखर ने भी कारयित्री प्रतिभा के तीन भेद किए - सहजा, आहार्या, औपदेशिकी।

1.	सहजा	-	पूर्व-जन्म के संस्कारों से युक्त प्रतिभा।
2.	आहार्या	-	इस जन्म के संस्कारों से उत्पन्न प्रतिभा।
3.	औपदेशिकी	-	तंत्र, मंत्र, देवता, गुरु आदि के उपदेश से उत्पन्न होती है।

मम्मटाचार्य ने प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास तीनों की सम्यकता को काव्य हेतु माना - 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्। काव्यत्व शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।' किंतु **आचार्य वाग्भट्ट** के अनुसार केवल प्रतिभा ही काव्य का कारण है - 'प्रतिभैव च कवीनां काव्य-कारण कारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एवं संस्कारकारकौ।' व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तो प्रतिभा के संस्कारक हेतु हैं। इसी बात को केशव मिश्र ने 'अलंकारशेखर' में दोहराया है - 'प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्। भृशोत्पत्तिकृदभ्यासः काव्यस्यैषाव्यवस्थिति।।'

आचार्य हेमचन्द्र ने इस चिंतन परम्परा में निर्णय दे दिया - 'प्रतिभाऽस्य हेतुः। xxx अस्य काव्यस्येदं प्रधानं कारणम्। व्युत्पत्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कार काविति वक्ष्यते।' (काव्यानुशासन) अज्ञान के मायावरणों के हट जाने पर उद्भासित चैतन्य का प्रकाश ही 'प्रतिभा' है।

'काव्य हेतु' चिन्तन-परम्परा की मान्यताओं को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं - (1) वे आचार्य जो प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास तीनों को काव्य हेतु मानते हैं; और (2) वे आचार्य जो केवल 'प्रतिभा' को ही सृजन का मूल घोषित करते हैं -

(क) मम्मट, दण्डी, राजशेखर, तीनों को महत्व देते हैं।

(ख) भामह, वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, केशव मिश्र, वाग्भट्ट, रुद्रट तथा पण्डितराज जगन्नाथ - प्रतिभा के प्राधान्य को घोषित करते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मीमांसा, न्याय तथा वेदान्त तीनों दर्शनों का उपयोग करते हुए काव्य हेतुओं पर विचार किया है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार रखे जा सकते हैं -

1. प्रतिभा का मूल रूप प्रतिभात्व है जो अखण्ड उपाधि है।
2. रमणीय अर्थों तथा तद्नुरूप शब्दों की उद्भावना प्रतिभा का कार्य है।
3. व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तथा अदृश्य-शक्ति, काव्य-प्रतिभा के उन्मीलक हेतु हैं। ये हेतु विविध रूप हो सकते हैं। प्रतिभा का उन्मीलित रूप भी विविध होता है।
4. सभी कवियों में एक-सी प्रतिभा नहीं होती। अतः प्रतिभा की अनेकरूपता काव्य की विलक्षणता का स्पष्ट संकेत है।
5. काव्य का कारण केवल प्रतिभा है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास तीनों नहीं हैं।
6. काव्य की संघटना अथवा रचना के अनुकूल शब्दों और अर्थों का संयोजन ही प्रतिभा का मूल कार्य है।

2.4.3 व्युत्पत्ति

राजशेखर ने प्राचीन आचार्यों के मतों पर विचार करते हुए व्युत्पत्ति का अर्थ किया है - 'बहुज्ञता'। संस्कृत काव्यशास्त्र के लगभग सभी आचार्यों को यही मत मान्य है। राजशेखर ने स्वयं अपना मत व्युत्पत्ति पर देते हुए कहा है कि 'उचित-अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है।' आचार्यों ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा का 'संस्कारक', 'उपकारक', 'पोषक' कारण माना है। अकेले आचार्य मंगल ने कहा है कि प्रतिभा से व्युत्पत्ति श्रेष्ठ है किंतु इस मत को न तो समर्थन मिला है और न ही कोई चर्चा हुई है। कवि-कर्म की कसौटी है भाव की सम्प्रेषणीयता। कवि अपनी अनुभूति को 'निर्वैयक्तिक' बनाकर ही सफल होता है। पर हृदय को प्रभावित करने या पकड़ने की ताकत कवि में तभी आती है जब उसमें 'लोक-हृदयता' होती है। इस 'लोक-हृदयता' के लिए कवि से व्यापक लोक-ज्ञान की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार, कवि-प्रतिभा से व्युत्पत्ति का निकट संबंध है।

2.4.4 अभ्यास

काव्य-सृजन के लिए 'अभ्यास' की उपादेयता से भला कौन इनकार कर सकता है। काव्य केवल कवि की स्वानुभूति ही नहीं है वह साधना है, तप है, चित्त योग है, भाव-योग है, समाधि है। प्रतिभावान कवि निरंतर साधना से, तप से प्रतिभा को तपाता है, उसको निखारता-दमकाता है। यही कारण है कि कालिदास हों या जयशंकर प्रसाद - उनकी आरंभिक तथा आगे की रचनाओं में महान अंतर दिखाई देता है। 'प्रेमपथिक' के कवि ने 'कामायनी' तक आते-आते अपनी कला का अद्‌भुत विकास किया है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में कहा है कि 'निरंतर प्रयास करते रहने को अभ्यास' कहते हैं। सभी आचार्यों ने अभ्यास को प्रतिभा का पोषक हेतु माना है। दण्डी ने प्रतिभा को सर्वोपरि मानने पर भी कहा है कि 'पूर्व-वासनाजन्य अद्‌भुत प्रतिभा के न रहने पर भी शास्त्र के निरंतर अध्ययन और अभ्यास से वाग्देवी या सरस्वती प्रसन्न होती है। पर अभ्यास में 'समाधि' चाहिए। चित्त की एकाग्रता के बिना अभ्यास में तेज पैदा नहीं होता। लोक-जीवन में कहा जाता है कि 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान। रसरी आवत जात ही सिल पर परत निसान।' निरंतर रस्सी की रगड़ पत्थर पर निशान छोड़ देती है - 'अति की रगड़ करै जो कोई। अग्नि प्रकट चन्दन तै होई।।' निरंतरता ही तप है - 'तप बल विष्णु करहि संहारा।'

2.4.5 भावयित्री-प्रतिभा की उपादेयता

कारयित्री प्रतिभा का संबंध कवि की काव्य-निर्माण शक्ति है तो भावयित्री प्रतिभा का संबंध भावक, प्रमाता अथवा सहृदय की भावन-आस्वादन शक्ति से। राजशेखर स्पष्ट कहते हैं कि भावक के कारण ही कवि का व्यापार-तरु (कवि कर्म) सफल होता है। ज़ाहिर है कि भावक की प्रतिभा में ही कवि-प्रतिभा के तत्व अंतर्निहित होते हैं। स्मृति-मति या प्रज्ञा का महत्व कवि की भाँति सहृदय के लिए भी है। काव्यास्वादन की प्रक्रिया में भावयित्री प्रतिभा परम उपादेय हैं। काव्यानंद जिस व्यंग्यार्थ में निहित है उसे तो प्रतिभावान सहृदय ही भोग सकता है। मम्मट का 'प्रतिभाजुष' शब्द सहृदय की ही बोधक अवधारणा है। वाच्यार्थ का बोध तो सामान्य व्यक्ति कर सकता है किंतु व्यंग्यार्थ का भोग विशिष्ट पाठक या प्रतिभावान व्यक्ति ही कर सकता है। काव्यास्वादक से प्रतिभा का सहकारित्व होना ही अभिनव के मत से व्यंजना का प्राण है। व्यंजना को ग्रहण कर पाने में असमर्थ व्यक्ति ही 'अरसिक' है और अरसिक से काव्य-निवेदन नहीं करना चाहिए - 'अरसिकेषु काव्यनिवेदनं मा कुरु मा कुरु।' आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि 'सवासन्' (संस्कारी पाठक या दर्शक) व्यक्तियों को ही काव्य-नाटकादि में रस प्रतीति होती है तथा 'निर्वासन' व्यक्तियों की स्थिति काव्य-पाठ या नाट्य गृह में पाषाण और दीवार के समान है। शुष्कता के कारण ही आचार्यों ने वैयाकरणों को काव्यार्थ-बोध का अनधिकारी कहा है। शब्द के व्यंजक व्यापार की जो ध्वनि न समझता हो वह 'विदग्ध' जन नहीं है, काव्य का अधिकारी नहीं है। हिंदी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की विदग्धता-सहृदयता को हम सभी सराहते हैं। आज की आलोचना में तो भावक या आलोचक को इतना महत्व मिल रहा है कि आलोचना-कर्म, कवि-कर्म से कम सृजनात्मक नहीं माना जा रहा है। आ. रामचन्द्र शुक्ल का 'तुलसीदास', आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का 'कबीर', विजयदेव नारायण साही का 'जायसी' सृजनात्मक आलोचना की बड़ी उपलब्धियाँ हैं।

2.5 प्रतिभा और कल्पना

भारतीय काव्य-चिंतन के अनुसार प्रतिभा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है - नूतन सृजन की क्षमता। अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' कहा है। 'प्रतिभा' की इस अवधारणा को अभिनवगुप्त ने प्रायः चर्चा का विषय बनाया है। जैसे प्रतिभान को 'वर्णनीय वस्तु-विषय का नूतन रूप' देने की बात 'प्रतिभानं वर्णनीय वस्तु विषयनूतनोल्लेखशालित्वम्।'

वक्रोक्तिकार ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में नूतनता या अपूर्वता की स्पष्ट व्याख्या की है। नूतनता या अपूर्वता का अर्थ है जिसका उल्लेख पहली बार किया गया है 'अपूर्व' है - 'नूतनोल्लेख-लोकातिक्रान्तगोचर निर्मिति।' अर्थात् अपूर्व में कवि लोक का अतिक्रमण करता है। वह ऐसे पदार्थ का निर्माण करता है जो प्रसिद्ध व्यवहार को तिरस्कृत कर देता है किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि कवि किसी ऐसे पदार्थ का निर्माण करता है जो अविद्यमान हो। वर्ण्यमान विषय में कवि ऐसा वैशिष्ट्य पैदा कर देता है जो सहृदय के चित्त को चमत्कृत कर देता है। यही 'अपूर्व रमणीयता' है। प्रकृति में सभी चीज़ें पहले से ही मौजूद हैं किंतु कवि उनका ऐसा वर्णन करता है कि अपूर्व सौंदर्य की सृष्टि होती है। कालिदास का 'मेघदूत' तथा जयदेव का 'गीत गोविन्द' वर्णन अपूर्वता के उदाहरण हैं। कवि-कर्म क्या

है? वागर्थ की प्रतिपत्ति। शब्द अर्थ के द्वारा एक नूतन सृष्टि या सौंदर्य। अभिनवगुप्त ने कुन्तक से अलग अपूर्वता की व्याख्या शैवागम के आधार पर की है। इस 'अपूर्व' को कुमारस्वामी ने 'वस्तु-रूप-रस की रमणीयता' कहा है।

पाश्चात्य काव्य-चिंतन में 'कल्पना' का वही स्थान है जो भारतीय काव्य-चिंतन में 'प्रतिभा' का। वहाँ कल्पना काव्य का साध्य भी है और साधन भी। किंतु भारतीय चिंतन कल्पना को साधन रूप में ही स्वीकार करता है 'साध्य' रूप में नहीं। आ.शुक्ल बार-बार कहते हैं कि पश्चिम में कल्पना की इतनी मुनादी हुई कि सारा कवि-कर्म उसी पर केंद्रित हो गया। फिर सर्जनात्मक कल्पना (creative imagination) की सत्ता को साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में स्वच्छंदतावादियों ने - विशेष कर वर्डसवर्थ और कॉलरिज ने - सुस्पष्ट रीति से घोषित किया। कल्पना-सिद्धांत की घोषणा में कॉलरिज की पुस्तक 'बायोग्रैफियालिटरेरिया' की बड़ी भूमिका रही है। इस ग्रंथ के तेरहवें अध्याय में उन्होंने कल्पना के स्वरूप का निर्धारण किया। कुछ विद्वानों का कहना है कल्पना-सिद्धांत में कॉलरिज का कुछ नहीं है, जो कुछ है काण्ट और हीगल (जर्मन दार्शनिक) का है। यह भी कहा जाता है कि कॉलरिज 18वीं शताब्दी के नवप्लेटोवादियों से, प्लाटिनस से प्रभावित थे। शेक्सपियर के कथन में भी यह बात है कवि, प्रेमी और पागल तीनों में कल्पना की प्रचुरता होती है। कॉलरिज ने फैन्सी तथा इमैजिनेशन की भिन्नता को प्रतिपादित करते हुए कल्पना के दो रूप किए - (1) प्राइमरी इमैजिनेशन - भावयित्री प्रतिभा या ग्राहक की कल्पना, और (2) सेकेण्डरी इमैजिनेशन - उत्तरजात कल्पना या कारयित्री प्रतिभा या कवि-प्रतिभा। उत्तरजात कल्पना ही कवि की रूप-विधायिनी शक्ति है। इसे ही कॉलरिज ने 'इसैम्पलैस्टिक पॉवर' (Esemplastic Power) कहा है। कॉलरिज के बाद आई.ए. रिचर्डस ने भी माना कि कल्पना द्वारा निर्मित रूप-विधान बाहर से आरोपित नहीं होता बल्कि अंतःप्रेरणा से उद्‌भूत होता है। विचार, भावना और पदार्थ के संयोग से सर्जनात्मक कल्पना नूतन सृष्टि करती है। जाहिर है कि 'प्रतिभा' तथा 'कल्पना' में पर्याप्त समानता मिलती है। पर 'प्रतिभा' जैसी भारतीय अवधारणा के समान पाश्चात्य-चिंतन में कोई एक अकेली अवधारणा नहीं है। यह सच है कि भारत के समान पश्चिम में भी दार्शनिक स्तर पर सृजन-शक्ति के विषय में सूक्ष्म-गहन चिंतन हुआ है। वहाँ कुछ चिंतन 'सृजनात्मक सहजानुभूति' (क्रियेटिव इंटयूशन) के अंतर्गत हुआ और कुछ 'सृजनात्मक कल्पना' के अंतर्गत। फ्रांसीसी सौंदर्यशास्त्री ज्याक मारिते ने 'आत्मा की सृजनशीलता' (क्रिएटिविटी ऑफ स्पिरिट) तथा 'सृजनशील आत्मा की स्वतंत्रता' (फ्रीडम ऑफ दि क्रिएटिव स्पिरिट) की पर्याप्त चर्चा की है। हिंदी मे अज्ञेय के कवि-काव्य के चिंतन संदर्भ में ज्याक मारिते की गूँज-अनुगूँज सुनाई देती है। सृजनशीलता ही ऐसी शक्ति है जो मानव को अन्य प्राणियों से अलग करती है। सृष्टि में मानव अकेला प्रतीक-स्रष्टा प्राणी है। सहजानुभूति को सृजन-शक्ति मानने वालों में बर्गसाँ, क्रोचे आदि प्रमुख हैं। हिंदी में ग.मा.मुक्तिबोध ('फैण्टेसी' के प्रधान कवि) ने माना है कि वे आरंभ में बर्गसाँ के चिंतन से प्रभावित रहे हैं। यह बात मुक्तिबोध ने 'तारसप्तक' के कवि-वक्तव्य में स्वयं स्वीकार की है।

2.6 पश्चिम में काव्य प्रेरणा संबंधी चर्चा

पश्चिम के सृजन-प्रेरणा संबंधी सिद्धांतों की एक संक्षिप्त रूपरेखा हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

2.6.1 काव्य प्रेरणा : दैवी प्रेरणा

पश्चिम में 'काव्य प्रेरणा' पर विचार करने की एक दीर्घ परम्परा है। पश्चिमी साहित्य में **होमर** ने इस परम्परा का सूत्रपात किया और तब से यह परम्परा किसी न किसी रूप में मिलती है। होमर ने अपने दोनों प्रख्यात महाकाव्यों 'इलियड' और 'ओडसी' के आरंभ में 'म्यूज' अर्थात् 'विद्या की देवी सरस्वती की स्तुति की है तथा उससे काव्य-सृजन-शक्ति की याचना की है। होमर को विश्वास था कि काव्य का मूल स्रोत किसी ऐसी पारलौकिक शक्ति में है जिसपर कवि का कोई नियंत्रण नहीं है। हिसियाड ने स्पष्ट कहा कि म्यूज ने कृपापूर्वक काव्य-रचना की शक्ति उसे प्रदान की है। प्राचीन यहूदी संतों के वचन तथा बाइबिल के संकेत तथा प्रेरणा का ग्रहण एवं प्रकाशन करने वाला मनुष्य असाधारण होता है।

काव्य प्रेरणा की प्रक्रिया पर प्लेटो के विचार न केवल ऐतिहासिक महत्व के हैं, बल्कि उनका तात्विक मूल्य भी कम करके नहीं आँका जा सकता। 'फैड्रस', 'इऑन' के संवादों में प्लेटो ने काव्य प्रेरणा पर बहुत कुछ कहा है।

सुकरात ने इऑन से कहा - 'जो शक्ति तुम्हें प्राप्त है वह कला नहीं है। किंतु जैसा कि मैंने अभी बताया है, वह 'प्रेरणा' है। तुम्हें एक दैवी-शक्ति परिचालित कर रही है, वह ऐसी शक्ति के समान है जो उस प्रस्तर-खण्ड में निहित रहती है, जिसे यूरुपिडीज ने 'चुम्बक' की संज्ञा दी थी। किंतु जो सामान्यतः हेरेक्ली का प्रस्तर कहलाता है। यह प्रस्तर न केवल लोहे की अँगूठियों को स्वयं आकृष्ट करता है अपितु उन्हें अन्य लोहे की अँगूठियों को आकृष्ट करने की शक्ति भी प्रदान करता है और कभी-कभी हम कई लोहे के खण्डों, अँगूठियों को आकर्षण के द्वारा एक श्रृंखला में सम्बद्ध पाते हैं। xxx इस भाँति म्यूज (विद्या की देवी) सर्वप्रथम कतिपय व्यक्तियों को प्रेरित करती है और इन अनुप्रेरित व्यक्तियों से अन्य प्रेरणा प्राप्त जनों की श्रृंखला जुड़ी रहती है, जो म्यूज द्वारा प्रेरित जनों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। क्योंकि सभी उत्कृष्ट कवि चाहे वे महाकाव्य प्रणेता हों या मुक्तक प्रणेता हों, अपने सुंदर कला की रचना कला द्वारा नहीं करते, बल्कि उस प्रेरणा द्वारा करते हैं जो उन्हें प्रेरित और अभिभूत करती है। और जैसे कोरिवेष्टियन आमोद-प्रमोद करने वालों के मन में नृत्य करते समय विक्षेप होता है वैसे ही मुक्तक रचने वाले कवियों के मन में विक्षेप होता है। xxx कवि मनुष्यों के बारे में अनेक सुंदर बातें कहते हैं, किंतु जैसा तुमने स्वयं होमर के विषय में बताया है, वे उनके बारे में कला के नियमों द्वारा कथन नहीं करते, वरन वही बातें कहते हैं जिनके लिए 'म्यूज' उन्हें प्रेरित करती है।' प्लेटो ने कहा कि कवि में 'दिव्य पागलपन' (डिवाइन इनसेनिटी) होता है ईश्वर कवियों की चेतना को अपने वश में किए रहता है। प्लेटो के बाद भी परम्परा उन चिंतकों की कम नहीं रही है जो मानते रहे हैं कि प्रतिभावान व्यक्ति में विक्षेपयुक्त मनःस्थिति होती है। होरेस ने काव्य के लिए प्रेरणा को अनिवार्य माना। इसी परम्परा में मिल्टन ने कहा कि प्रेरणा में सृजनात्मक कल्पना की अग्नि होती है जिसे देवदूत ईश्वर के राज्य से लाकर भाग्यवान कवियों को प्रदान करते हैं।

ऐसे भी विद्वान हैं जो प्रेरणा को काव्य का सर्वस्व न मानकर सृजन में कवि के चेतन प्रयास की ही सत्ता-महत्ता मानते हैं। लेकिन ये विचारक भी प्रेरणा को अस्वीकार करने का साहस नहीं रखते हैं। वर्जिल, दान्ते, टैसो, मिल्टन आदि महान सर्जक सृजन के किसी न किसी भाग में दैवी-शक्ति का आवाहन करते हैं। दिलचस्प तथ्य यह है कि ईसाई धर्म के प्रचारोपरान्त भी यूनानी देवी-देवताओं की आदर-पूजा का भाव कम न हुआ। उदाहरण के लिए, दान्ते ने अपोलो देवता का स्तवन किया है और कट्टर ईसाई होने पर भी मिल्टन यूरैनिया से शक्ति-याचना करते मिलते हैं।

आधुनिक काल में काव्य प्रेरणा से संबंधित धारणा में थोड़े-बहुत परिवर्तन हुए हैं। शेक्सपियर अनेक स्थलों पर कवि-प्रेरणा से उद्‌भूत सर्जनात्मकता की बात करते हैं। ड्राइडेन ने तो स्पष्ट कहा है कि शक्तिशाली प्रेरणा के बिना काव्य-सृजन संभव ही नहीं है। स्वच्छंदतावादी युग में ब्लेक का काव्य-सृजन काव्य प्रेरणा, विशेषकर दैवी-प्रेरणा का पर्याय रहा। कॉलरिज, वर्डसवर्थ, शैली - सभी न केवल काव्य प्रेरणा की चर्चा करते हैं, बल्कि काव्य प्रेरणा पर गंभीरता से विचार करते हैं। इतना ही नहीं, रेम्बू से मलार्मे तक ऐसा कौन प्रतीकवादी कवि है जो दैवी-प्रेरणा से आक्रान्त नहीं है। बादलेयर, वर्लेन, वेलरी, रिल्के, येट्स - सभी दैवी प्रेरणा की पुकार मचाते हैं और कहते हैं कि प्रेरणा का क्षण छोटा पर तीव्र और भीतर तक प्रकाश पैदा करने वाला होता है। शक्तिशाली प्रेरणा क्षणों में रची गई कविताओं में अनुभूति की घनता लाजवाब होती है।

काव्य प्रेरणा पर विचार करने वाले एक तरह के वे विचारक भी हैं जो मानते हैं कि काव्य प्रेरणा कवि के अंतःकरण में जन्म लेती है। शैली ने कहा, 'कविता तर्क की भाँति कोई शक्ति नहीं है जिसका व्यवहार इच्छापूर्वक किया जा सकता है। कोई आदमी नहीं कह सकता कि मैं कविता करूँगा। बड़ा से बड़ा कवि भी नहीं कह सकता क्योंकि सर्जनशील मन बुझते हुए अंगारे की भाँति होता है जिसे कोई अदृश्य हवा अस्थिर झोंके के समान जागृत कर क्षण-भर के लिए प्रज्वलित कर देती है। यह शक्ति आंतरिक होती है जो पुष्प के उस रंग की भाँति होती है जो जिस प्रकार खिलता है वैसे ही परिवर्तित होता है और मुरझा जाता है।' शैली के बाद सौंदर्यशास्त्री क्रोचे ने अंतःकरण में आविर्भूत प्रेरणा को 'सहजानुभूति' (इन्ट्यूशन) के सिद्धांत से प्रस्तुत किया।

एडगर एलेन पो ने प्रेरणा के क्षणिक स्वरूप और विलय की बात उठाई है। उनका मत है कि सर्जनशील काव्य प्रेरणा अल्पजीवी होती है। अतः विशालकाय काव्य-कृतियों में उसका तीव्र सघन उत्कर्ष प्रकट नहीं हो पाता। इस प्रकार काव्य प्रेरणा सिद्धांत को मानने वाले कुछ विचारकों ने मुक्तक या प्रगीतों को प्रबंध काव्य से ज्यादा उत्कृष्ट काव्य माना है। प्रो.सी.एम.बाबरा ने माना कि काव्य प्रेरणा किसी भाव, घटना, भावना, स्मृति के साथ उत्पन्न होती है जिससे रचनाकार की अंतर्मानसिकता ही नहीं पूरा व्यक्तित्व आंदोलित होता है। यही 'दैवी उन्माद' (डिवाइन मैडनेस) है।

काव्य प्रेरणाजन्य मन में अनुपम एकाग्रता-तल्लीनता होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में राजशेखर द्वारा वर्णित 'समाधि' यही अनुपम एकग्रता अथवा तल्लीनता है। काव्य प्रेरणा में प्रबल आवेग होता है, कवि की धमनियों में वह बिजली-सी कौंधती है। प्रेरणा की धारा में इतनी शक्ति होती है कि कोई उसे रोक नहीं सकता। तुलसीदास ने कहा 'कहे बिनु मन न रहत' अर्थात् मन की विवशता यह है कि कहे बिना रहा नहीं जाता। स्वयं अरस्तू काव्य प्रेरणा को 'अनुकरण' तथा 'लय और संगीत का सामंजस्य' दो रूपों में स्वीकार करते हैं।

दिलचस्प तथ्य यह है कि काव्य प्रेरणा का क्षण दीर्घजीवी न होने पर भी 'अनन्त' होता है, देश और काल को अनुभूति की एकाग्रता में बाँध लेता है। वर्डसवर्थ तथा शैली दोनों 'अनन्त' की बात उठाकर 'इटरनल', 'इटरनिटी' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह प्रेरणा 'आनन्द रूप' ही नहीं 'ज्ञान रूप' भी होती है। मूल बात यह भी है कि प्रेरणा का रूप 'कल्पना', 'भावना', 'संवेदना' से भिन्न होता है। प्रेरणा एक अंतर्दृष्टि होती है जो कविता के वर्ण्य विषय और रूप (फार्म) को स्वतः परिवर्तित करती रहती है। रिल्के और टी.एस.एलियट मानते हैं काव्य प्रेरणा अपनी आवश्यकता के अनुकूल नये काव्य-रूपों, प्रयोगों की सृष्टि करती है।

2.6.2 अनुकरण सिद्धांत

अरस्तू का प्रसिद्ध मत है कि अनुकरण जीवन की मूल प्रवृत्ति है। आरंभ में हम सब अनुकरण के द्वारा ही सीखते हैं और अनुकरण से प्राप्त आनंद भी कम सार्वभौम नहीं। कला प्रकृति के माध्यम से जीवन का अनुकरण है। अनुकरण को अरस्तू 'नकल' नहीं मानते हैं। अतः अरस्तू के अनुकरण का अर्थ हुआ - जीवन की पुनर्रचना, पुनः सृजन, पुनः उत्पादन, नवीन निर्मिति आदि। योरोपीय सौंदर्य-दर्शन तथा साहित्यशास्त्र में 'माइमेसिस', 'इमिटेशन' अर्थात् अनुकरण की चर्चा निरंतर होती रही है। अनुकरण का सामान्य अर्थ है - उत्कृष्ट कवियों की कृतियों का अध्ययन और अनुसरण। **होरेस** ने तो यहाँ तक कह दिया कि नवीन रचनाकारों को प्राचीन कृतियों का दिन में अध्ययन और रात्रि में उनपर मनन-चिंतन करना चाहिए। **लांजाइनस** का विचार है कि जिन रचनाकारों को उदात्त भावनाओं की नैसर्गिक उपलब्धि नहीं होती वे महान रचनाकारों की कृतियों के चिंतन-मनन से उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। नवजागरण-युग में यह प्रश्न उठाया गया कि कवि को प्राचीन कृतियों का अनुकरण करना चाहिए अथवा प्रकृति का। लगभग तीन सौ वर्षों तक यह विवाद चलता रहा और अंत में तय हुआ कि प्रकृति का अनुकरण ही श्रेयष्कर है। स्वच्छंदतावादियों ने 'प्रकृति' को केंद्रीयता प्रदान की और विशुद्ध प्राकृतिक उपादानों को ही कलात्मक सृजन का आधार माना। तत्पश्चात् अनुकरण सिद्धांत की नवीन व्याख्याएँ हुईं और कहा गया कि कला प्रकृति का अनुकरण नहीं करती अपितु प्रकृति के उन नियमों का अनुकरण करती है जिनके अनुसार प्रकृति उपादान एवं सृष्टि करती है।

आधुनिक भारतीय विद्वानों ने अरस्तू के 'अनुकरण' और भरतमुनि के 'अनुकरण' की तुलना करते हुए दोनों में समानता के काफी बिंदु खोजे हैं। लेकिन दोनों में दो संस्कृतियों के चिंतन की भिन्नता भी भुलाने की चीज़ नहीं है। संस्कृत में 'अनुकरण' के स्थान पर 'अनुकीर्त्तन' शब्द का प्रयोग होता है। 'अनुकीर्त्तन' शब्द को प्रायः 'अनुव्यवसाय' से जोड़कर व्याख्यायित किया गया है। अभिनवगुप्त ने 'अनुकीर्त्तन' को अलौकिक गति का निरूपण किया है। चिंतन की यह मूलग्राही-सूक्ष्मता 'इमीटेशन' में नहीं मिलती।

2.6.3 प्रतिभास सिद्धांत

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में 'प्रतिभास सिद्धांत' की चर्चा हुई है। कला-सृजन को अनुकरणात्मक प्रक्रिया स्वीकार करने पर मानना पड़ता है कि कला में जीवन के सत्यों का अनुकरण होता है। ऐसी स्थिति में अनुकरण का अर्थ हुआ जीवन की पुनर्रचना। कलाकृति का तात्कालिक प्रभाव 'सत्य से पृथकता' के रूप में होता है। इस 'अदरनेस फ्राम रियलिटी' के रूप में एक ऐसी 'प्रतिभास' प्रतीति होती है जो कलाकृति के विधायक तत्वों में अंतर्व्याप्त रहती है। कलाकृति में जो भी व्यक्त होता है उसे **शिलर** ने एक प्रकार का 'प्रतिभास' माना है। यह प्रतिभास जीवन जगत की नीरस वास्तविकताओं के बीच एक अजनबी मेहमान की भाँति होता है। इसे ही अजनबीपन या पृथकता कहा जा सकता है। स्वयं मनोविश्लेषणशास्त्री **युंग** ने कलावस्तु को 'प्रतिभास' कहा है और स्वप्न का दृष्टान्त देकर अपनी बात को समझाया है। कला, यथार्थ का भ्रम है और कलाकृति का प्रभाव, स्वप्न प्रभाव की भाँति होता है। भारतीय परंपरा में भरत ने नाट्य में 'अनुकीर्तन' को 'अनुव्यवसाय-विशेष' से जोड़ा है। इस विचार में 'नाट्य-भ्रान्ति' का सिद्धांत प्रतिपादित किया। भट्टलोलट ने 'उत्पत्तिवाद' और शंकुक ने 'अनुमितिवाद'

की चर्चा में 'नाट्य-भ्रान्ति' की स्थापना की है। मूल बात यह है कि सफल नाट्य-भ्रान्ति पैदा कर देना ही कला-सौंदर्य है।

2.6.4 आत्माभिव्यक्ति का सिद्धांत

पश्चिम में ऐतिहासिक दृष्टि से आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत का रिश्ता रोमाण्टिक चिंतनधारा के काव्य-सृजन से जोड़ा जाता रहा है। 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में **वर्डसवर्थ** ने इस सिद्धांत का प्रथम दस्तावेज़ प्रस्तुत किया है। यदि और खोजबीन करें तो इस सिद्धांत के बीज प्लेटो और लांजाइनस के 'उदात्त के विषय में' सिद्धांत में भी मिल जाते हैं। अनुभूति के आवेग को लांजाइनस ने 'उदात्त' में स्पष्टता से स्थान दिया है। पश्चिम के अभिव्यंजनावादियों का मूल सिद्धांत भी यही है कि कविता प्रबल प्रेरणा प्रसूत अनुभूति के आवेग से संचालित होने वाली कला है। इस प्रकार पश्चिम का आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत मूलतः अभिजात्यवादी (क्लासिकल) तथा नव्य-शास्त्रवादी (पोप-ड्राइडन आदि) सिद्धांतों के विरुद्ध पैदा हुआ सिद्धांत है। आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत में व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा का एक अर्थ यह भी है कि वह व्यक्ति के आंतरिक आवेग और आवेश को कला-सृजन के लिए महत्वपूर्ण 'कारक' मानता है। इसीलिए इस सिद्धांत का केंद्र 'कवि' है, काव्य नहीं। रोमानी कवियों ने प्रकृत-सहज भाव-शक्ति को अत्यधिक महत्व दिया। कवि का कर्म आंतरिक भावों की सहज-प्रबल अभिव्यक्ति के कारण ही 'सृजन' हो गया। यह भी कहा गया कि काव्य-रचना मूलतः वैयक्तिक प्रयास है, व्यक्ति की मानसिक-दशा की अभिव्यंजना है। इस प्रकार, सृजन आत्म-साक्षात्कार के क्षणों की अनिवार्य प्रक्रिया है। एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें 'अनुभूति' या राग-तत्व पर बल अधिक है। कवि मूलतः सामान्य प्राणियों की तुलना में अधिक संवेदनशील, कल्पनाशील होता है। वर्डसवर्थ की काव्य-परिभाषा से स्पष्ट है कि कविता अंतःस्फूर्त भावों की तीव्रतम अभिव्यक्ति है या भाव-उच्छलन है। अभिव्यक्ति की सहजता का रोमाण्टिक विचार-धारा में विशेष महत्व है। इसी 'सहजता' के आधार पर कला-सृजन की निष्प्रयोजनीयता का प्रतिपादन किया गया है।

2.6.5 इच्छा-पूर्ति का सिद्धांत

इस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य सिगमंड **फ्रायड** माने जाते हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण में 'अवचेतन' का बड़ा महत्व है। अवचेतन के अध्ययन से ही फ्रायड ने कहा कि जीवन में अतृप्तियों की भूमिका प्रबल होती है। रचनाकार इन अतृप्तियों की पूर्ति का रचना में प्रयास करता है। कला अतृप्तियों की तृप्ति का प्रयास है। रचनाकार को 'मनोरोगी' कहते हुए फ्रायड ने 'स्वप्न सिद्धांत' का विस्तार से तथा कला-सृजन को 'फैण्टेसी' और 'शिशु-क्रीड़ा' से जोड़ दिया। कला-सृजन में कलाकार 'शिशु' की तरह आचरण करता है, दिवास्वप्नों तथा 'फैण्टेसियों' का निर्माण करता है। कवि की पूरी प्रतीक-बिम्ब व्यवस्था में आंतरिक अवचेतन में उमड़ती-घुमड़ती दमित वासनाएँ ही रूप बदलकर अभिव्यक्ति पाती हैं। भीतरी मन की विकृतियों के बाहर निकास से कला-सृजन में विरेचन या भाव-शुद्धीकरण की प्रक्रिया रहती है। 'फैण्टेसी' स्वयं विश्रान्ति का स्थल है जहाँ जीवन के भयंकर तनावों-दुःखों-अपूर्णताओं से घबराकर हम विश्रामजन्य शान्ति का अनुभव करते हैं। दुःखते-कसकते अनुभवों के घावों से भरा रक्त बह जाता है और थोड़ी देर के लिए हमें दर्द से निजात मिल जाती है। पद-प्रतिष्ठा, नारी-प्रेम, धन-सम्पत्ति के अभाव में हम काल्पनिक सुखलोक का निर्माण कर लेते हैं। लेकिन वहाँ स्थायी निवास नहीं कर सकते। इसलिए पुनः जीवन-जगत की कठोर वास्तविकताओं में लौटते हैं। इस प्रकार कला-सृजन यथार्थ से दिवास्वप्न (फैण्टेसी) और दिवास्वप्न से पुनः यथार्थ की ओर अंतर्यात्रा है। इसीलिए फैण्टेसी इकहरे अनुभवों से नहीं जटिल-दुरूह-संश्लिष्ट अनुभवों से निर्मित होती है। हिंदी में 'कामायनी' और ग.मा.मुक्ति की कविता 'अंधेरे में' को इस कला-दृष्टि से देखा गया है और इस उधेड़-बुन से महत्वपूर्ण विचार-कण हाथ लगे हैं। कॉलरिज की फैण्टेसी 'कुबला खाँ' हो या प्रसाद की फैण्टेसी 'कामायनी' हो - फ्रायड की यह मान्यता इनसे पुष्टि पाती है कि जाति-विशेष के अवचेतन में संचित स्मृति-राशि का कलाकार कला में उपयोग कर लेता है, पुराण कथाएँ, देव-आख्यान आदि के द्वारा। इसलिए कला और कलाकार दोनों 'परम्परा' हैं 'इतिहास अनुभव-पुंज' हैं।

2.6.6 अधिकार भावना का सिद्धांत

फ्रायड ने यौन-भावना को जीवन की केंद्रित प्रेरणा-शक्ति माना है, लेकिन मनोविश्लेषणवादी एडलर ने 'अधिकार-भावना' को। एडलर के मत से मानव को तीन क्षेत्रों में समायोजन करना पड़ता है - (1) समाज (2) कार्य (3) प्रेम। इस तीन प्रकार के समायोजन में बचपन के अनुभव साधक या बाधक बनते हैं। शिशु असहाय रूप में जन्म लेता है, उसे दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस तरह हर कदम पर 'असहाय बोध' दृढ़ होता है। असहायता या हीनता के तीन क्षेत्र हैं - (1) विषम परिस्थितियाँ

(2) अनुचित व्यवहार (3) आंगिक हीनता। इन तीनों क्षेत्रों में से किसी एक क्षेत्र की भी असहायता उसमें 'कुंठा' को जन्म देती है, वह मनस्ताप का शिकार हो जाता है। अतः मनस्ताप के निदान के लिए चिकित्सक को बचपन का इतिहास जानना जरूरी हो जाता है।

असहायता की भावना की प्रतिक्रिया तीन रूपों में व्यक्त हो सकती है - (1) सफल क्षतिपूर्ति (2) पराजय के बाद आत्म-केंद्रित हो जाना या कर्म से पलायन करना (3) अति-क्षतिपूर्ति या समझौतापरस्ती की प्रवृत्ति का बढ़ना। किसी एक दिशा में ऊर्जा का प्रवाह अवरुद्ध होकर दूसरी दिशा में उत्कर्ष का साधन बनता है। यही सफल क्षतिपूर्ति है। सूरदास या मिल्टन अंधे थे, पर उन्होंने सृजन में विस्मयकारी सफलता प्राप्त की। क्षतिपूर्ति करने वाला व्यक्ति 'नॉर्मल' होता है और अतिक्षतिपूर्ति करने वाला 'एबनॉर्मल'। मानव के निर्माण में सर्वाधिक महत्व समाज-इतिहास-संस्कृति का होता है। 'हीनता-ग्रंथि' को हटाने के लिए खुली सामाजिकता अनिवार्य है। क्षतिपूर्ति ही जीवन और सृजन की मूल प्रेरणा है। इसी से 'अधिकार-भावना' की पूर्ति होती है।

2.6.7 प्रजातीय स्मृति का सिद्धांत

फ्रायड के समान **युंग** ने भी माना है कि अवचेतन का महत्व बहुत अधिक है। किंतु 'अवचेतन' के स्वरूप को लेकर दोनों में भेद हैं। फ्रायड के अवचेतन का निर्माण दमित यौन भावना से जुड़ा है, दमित इच्छाएँ अवचेतन में संचित होती हैं। युंग मानते हैं कि अवचेतन में ऐसे तत्व भी वर्तमान है जो कभी व्यक्तिगत अनुभव की सीमा में आते ही नहीं। वे कभी चेतन रहे ही नहीं पर पुरातन और सर्वव्यापी हैं। इसके लिए युंग ने 'प्रजातीय स्मृति-सिद्धांत' (रिशियल मेमरी) की महत्व-प्रतिष्ठा की। प्रत्येक मानव में 'आदिम अवचेतन' (प्रिमिटिव अन्कॉन्शस) रहता है जो विश्व-व्यापी, सामूहिक, पुरातन और निर्वैयक्तिक हुआ करता है। युंग ने अवचेतन के दो भाग माने - (1) वैयक्तिक अवचेतन (2) सामूहिक या प्रजातीय अवचेतन। सामूहिक अवचेतन में सामूहिक विश्वास तथा मिथकों का भण्डार रहता है। सामूहिक अवचेतन का तल ही मानव-इतिहास का विश्व-अनुभव पुंज है। इस प्रकार, मन के तीन स्तर हैं - (1) चेतन मन (2) वैयक्तिक अवचेतन मन (3) सामूहिक अवचेतन मन। सामूहिक अवचेतन विचारों को युंग 'आद्य-प्ररूप', 'आद्य बिम्ब' (आर्किटाइपल इमेज) कहते हैं। युंग मानते हैं कि कला-सृजन 'सामूहिक अवचेतन' की अभिव्यक्ति है और कलाकार 'सामूहिक मानव' होता है। रचनाकार की सृजन-निर्वैयक्तिकता में परम्परा-इतिहास सब कुछ बोल रहा होता है। 'कामायनी' में प्रसाद और उनका युग ही नहीं बोलता है - हमारे आदिम पुरखे तक बोल रहे होते हैं। टी.एस. एलियट ने 'ट्रेडिशन एण्ड इंडिवुजुअल टेलेण्ट' निबंध में सामूहिक अवचेतन सिद्धांत का व्यावहारिक रूप ही 'परम्परा' की अवधारणा में अभिव्यक्त किया है।

पश्चिमी जगत में कला-सृजन-प्रेरणा से संबंधित अनेक सिद्धांत समय-समय पर निर्मित होते रहे हैं जिनमें मार्क्सवादियों का 'आर्थिक-चिंतन सिद्धांत' तथा कलावादियों का 'सौंदर्य सिद्धांत' बहुचर्चित रहा है। सौंदर्यवादी मानते हैं कि सौंदर्य ही सृजन की मूल प्रेरणा है। ध्यान में रखने की बात यह है कि सौंदर्यवादियों ने 'सौंदर्य' शब्द का प्रयोग सीमित-संकुचित अर्थ में न करते हुए अर्थ-संदर्भ में प्रयुक्त किया है।

2.7 हिंदी में काव्य प्रेरणा और काव्य हेतु चिन्तन-परम्परा

हिंदी के चिंतकों पर संस्कृत तथा पश्चिमी चिंतन का प्रभाव अनेक रूपों में दिखाई देता है। किंतु विशेष बात यह है कि काव्य प्रेरणा तथा काव्य हेतु दोनों को मिलाकर ही यह चिंतन आगे बढ़ा है। 'काव्य प्रेरणा' से संबंधित पश्चिमी सिद्धांत हिंदी की आधुनिक आलोचना में पर्याप्त स्थान पाते रहे हैं। इतना अधिक कि कई बार तो पाठक को इनमें औपनिवेशिक गुलामी की गंध आती है और लगता है कि आधुनिक-चिंतन का अर्थ हो गया है - पश्चिमी चिंतन की नकल, अनुकृति-प्रभाव।

हिंदी काव्य-चिंतन के भक्तिकाल-रीतिकाल पर संस्कृत काव्यशास्त्र की गहरी छाप है। काव्य हेतु, संस्कृत काव्य का भरा-पूरा विषय रहा है। रीतिकाल के आचार्यगण संस्कृत काव्यशास्त्र के काव्य हेतुओं का ही सही-गलत अनुवाद करते रहे।

आधुनिक काल के आरंभ में **जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'** ने अपनी पुस्तक 'काव्य-प्रभाकर' के 'काव्य-कारण प्रसंग' में प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास की चर्चा की। उनके मत से शक्ति या प्रतिभा पूर्व-संस्कार

है, निपुणता व्युत्पत्ति या लोक-ज्ञान है और अभ्यास अनवरत सेवन। भानु जी ने मराठी के विद्वान चिपलूणकर के इस मत का खण्डन किया है कि काव्य-सृजन के लिए प्रतिभा ही पर्याप्त है। भानु जी के मत पर **कन्हैया लाल पोद्दार** ने (काव्य-कल्पद्रुम रसमंजरी {प्रथम भाग}, पृ.9) अपनी मुहर लगाई और प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास तीनों को काव्य-सृजन में आवश्यक माना। यही हालत **बिहारी लाल भट्ट** के 'साहित्य सागर' में मौजूद काव्य हेतु चर्चा की है। पूर्व-संस्कार, सद्ग्रंथों का अध्ययन और अभ्यास काव्य-सृजन के लिए आवश्यक हैं। **पण्डित रामदहिन मिश्र** ने काव्य का कारण प्रतिभा, शास्त्राध्ययन और अभ्यास को माना। इसी चिंतन परम्परा को **बाबू गुलाबराय** ने 'सिद्धांत और अध्ययन' में स्वीकार कर लिया। 'साहित्य की मूल प्रेरणाएँ' निबंध में काव्य प्रयोजनों को काव्य प्रेरणाएँ मान लिया और कालिदास के साक्ष्य से कहा कि यश, धन-प्राप्ति ही काव्य की मूल प्रेरणाएँ हैं। बाबू जी ने फ्रायड, एडलर, युंग के काव्य प्रेरणा सिद्धांतों की चर्चा की। **बाबू श्यामसुंदरदास** ने 'साहित्यालोचन' में पश्चिमी प्रभाव लेते हुए काव्य प्रेरणा के लिए मानव में निहित चार मनोवृत्तियों की चर्चा की- (1) आत्माभिव्यंजन की इच्छा (2) मानव-व्यापारों में अनुराग (3) नित्य और काल्पनिक संसार में अनुराग (4) सौंदर्य-प्रियता।

आधुनिक हिंदी साहित्य ने आरंभ से ही साम्राज्यवादी शक्तियों का विरोध किया। नवजागरण के प्रकाश में अंग्रेज़ों की गुलामी से मुक्ति का भाव प्रबल होता गया। 'इस सृजन में देशानुराग, देशाभिमान और देश-भक्ति का भाव-प्रवाह फूट पड़ा। भारतेंदु-युग और द्विवेदी-युग के काव्य की प्रेरणा है - दासता से मुक्ति तथा देश-भक्ति।' **आ.महावीर प्रसाद** द्विवेदी ने 'प्रतिभा' शीर्षक निबंध में देशी-विदेशी मतों की परीक्षा की तथा रीतिवाद का खण्डन किया। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के 'छंद प्रभाकर' के परम्परावादी चिंतन का **मैथिलीशरण गुप्त** ने विरोध किया तथा मानव-कल्याणमूलक प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य हेतु माना। जबकि गुप्त जी स्वयं 'प्रतिभा' से ज्यादा 'अभ्यास' के कवि रहे हैं।

हिंदी में छायावाद के कवियों और आलोचकों ने काव्य में आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत का पोषण किया। अंतःस्फूर्त अनुभूति ही छायावाद के केंद्र में रही। जयशंकर प्रसाद और डॉ.नगेन्द्र, निराला और नंददुलारे वाजपेयी, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, पन्त, महादेवी, शान्तिप्रिय द्विवेदी सभी स्वच्छंदतावादी कवि और आलोचक अपनी-अपनी शर्तों पर आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य प्रेरणा मानते रहे हैं। आत्मनिष्ठता, स्वानुभूति का विस्तार छायावादी काव्य का प्रधान-बिंदु रहा है।'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' छायावाद मानने का अर्थ ही है बाह्य इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर 'सूक्ष्म-विद्रोह' अर्थात् अंतर्मुखी-आत्मपरक प्रगीत काव्य की सूक्ष्म-सौंदर्य भावना को आदर तथा कलाभिव्यंजना में अपूर्व चमत्कार की सिद्धि। यहाँ प्रतिभा काव्य का प्रधान हेतु है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास संस्कारक-पोषक उपकारण हेतु। डॉ.नगेन्द्र तथा नंददुलारे वाजपेयी ने पश्चिमी चिंतन में पैठ करते हुए फ्रायड जैसे मनोविश्लेषवादी चिंतकों की भी चर्चा की है। इस काल में केवल आ.रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' के निबंधों में प्रेरणा और हेतु चिंतन पर मौलिक ढंग से विचार किया। 'रसात्मक बोध के विविध स्वरूप' उनका ऐसा ही काव्य प्रेरणा और सृजन-शक्ति पर किया गया मौलिक चिंतन है।

हिंदी के प्रगतिवादी और प्रगतिशील कवि-आलोचकों ने साहित्य को सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का हथियार माना है। अधिकांश चिंतकों ने कॉडवेल के इस मत का समर्थन किया है कि साहित्य रूपी मोती समाज रूपी सीपी में बनकर तैयार होता है। इसलिए समाज की चेतना ही साहित्य की सृजन प्रेरणा है। डॉ.रामविलास शर्मा ने कर्मरत मानव में आस्था व्यक्त करते हुए अपनी पुस्तकों के शीर्षक रखें - 'आस्था और सौंदर्य' और 'परम्परा का पुनर्मूल्यांकन'। उनके विचार से साहित्य एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है और चेतना का संशोधन-सम्पादन ही 'प्रतिभा' का मूल धर्म है। गजानन माधव मुक्तिबोध ने भी साहित्य को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हुए तत्व और रूप के प्रति निरंतर साधना-श्रम को सृजन-कर्म की प्रेरणा स्वीकार किया है। उनका प्रसिद्ध कथन है - 'हृदय में संचित प्रतिक्रियाएँ, अनुभव, आवेशमय अनुरोध, अतृप्त स्वप्न-राशियाँ जो हृदय में संचित हैं - उत्थित, तरंगित और प्रवाहित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों की दिशा में, जब उमड़ने लगती है और साथ ही जीवन-दृष्टि से ज्योतित होकर अंतर्नेत्रों के सम्मुख दृश्यमान होने लगती है, तब वस्तुतः हमें एस्थेटिक इमोशन प्राप्त होता है।' (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ.17) इस एस्थेटिक सेन्स का भण्डार है जनता। प्रतिभा का काम है - कला-सृजन के द्वारा जन के बोध को जाग्रत करना। वे कहते हैं 'सक्षम, सुंदर अभिव्यक्ति तो अविरल साधना और श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।' (वही, पृ.18) बर्गसाँ जैसे दार्शनिक और मनोविश्लेषणवादियों के 'फैण्टेसी' चिंतन से भी मुक्तिबोध प्रेरित-प्रभावित हैं। लेकिन

मार्क्सवाद का चिंतन ही उनकी सोच को अधिक प्रभावित करता रहा है। 'रचनाकार का मानवतावाद' इसी में है कि वह जनता के कष्ट को अभिव्यक्ति दे।

नयी कविता के कवि-आलोचक अज्ञेय ने घोषित किया कि **काव्य प्रेरणा काव्य का आभ्यांतरिक उपादान** है तथा कला 'सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने प्रमाणित करने का प्रयत्न, अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।' हिंदी में अज्ञेय ने फ्रायड तथा एडलर के प्रेरणा-सिद्धांत अपने ढंग से व्याख्यायित और प्रस्तुत किए। उन्होंने 'तार सप्तक' के अपने वक्तव्य में स्पष्ट कहा है कि आज के कवि का मन यौन प्रतीकों से पटा हुआ है।'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' शीर्षक निबंध में अज्ञेय ने भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों की भाँति प्रतिभा को काव्य का प्रधान हेतु मानते हुए अध्ययन (निपुणता) और अभ्यास की अनवरतता को संस्कारक हेतु स्वीकार किया है। उनके मत का सार है कि रचना आंतरिक प्रेरणा के साथ प्रतिभा-अध्ययन-अभ्यास का परिणाम होती है। उनके शब्दों में - 'सृजन-प्रक्रिया की जितनी चर्चा इधर हुई है उससे यह तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिए कि सृजन एक यंत्रणा-भरी प्रक्रिया है।' अज्ञेय ने 'भोगने वाले प्राणी' और 'रचने वाली मनीषा' के बीच अलगाव करते हुए टी.एस. एलियट के इस मत को माना है कि भोगने वाले और रचने वाले प्राणी में दूरी होती है। यह दूरी जितनी अधिक होती है रचनाकार उतना ही बड़ा होता है।

अज्ञेय जी के इस कथन से यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि क्या भावों से उन्मोचन ही महत्वपूर्ण है या कि सृजन में इसका भी कुछ मूल्य है कि कवि के वे भाव कितने प्रबल थे और किस प्रेरणा से फूटे थे। इसका उत्तर यह है कि मूल्य अनुभूति की प्रामाणिकता का है नयी कविता में अनुभूति की प्रामाणिकता तथा ईमानदार अनुभूति के प्रश्न पर बार-बार बहुत गहराई से विचार किया गया और कहा गया कि ईमानदार अनुभूति का अर्थ है - जीवन वास्तव का जिया-भोगा अनुभव। यह जिया-भोगा अनुभव ही अनुभूति मे कला सृजन की प्रेरणा का रूप धारण कर लेता है। वास्तव में जितनी सच्ची सृजन-प्रेरणा होगी उतना ही उसका प्रभाव शक्ति का विस्तार होगा। सच्चा कवि अपनी प्रतिभा को अभ्यास से निरंतर माँजता और विकसित करता है तथा जीवन-जगत के ज्ञान-विज्ञान से उसे नई चमक देता है। इस स्थिति के कारण सृजन कर्म प्रेरणा से ज्यादा साधना है।

2.8 समाहार और निष्कर्ष

भारतीय और पश्चिमी चिंतकों ने काव्य की प्रेरणा-हेतु पर अपने-अपने ढंग से हर युग में चिंतन किया है। इनके चिंतन का सार है -

1. काव्य-सृजन किसी न किसी प्रेरणा का परिणाम है।
2. काव्य-प्रतिभा काव्य-सृजन का प्रधान हेतु है।
3. निपुणता - ज्ञान-विज्ञान की साधना है।
4. अभ्यास का महत्व इसलिए है कि वह वस्तु और रूप दोनों को माँजता और चमकाता है। चित्त की यही एकाग्रता समाधि है।
5. भावयित्री प्रतिभा काव्य-संस्कार का अंग है।

2.9 शब्दावली

प्राक्तन संस्कार	-	पूर्व जन्म से प्राप्त संस्कार
अंतःप्रज्ञा	-	अंतर्दृष्टि, अंतर्ज्ञान
काव्य-विदुपासन	-	कविता के जानकारों की उपासना
वाक्-शक्ति	-	वाणी की शक्ति, सरस्वती द्वारा प्रदत्त शक्ति
उन्मीलन	-	विकास, खिलना
त्रिकालदर्शी	-	भूत, भविष्य, वर्तमान - तीनों कालों को देख सकने वोला महान योगी, ऋषि
संवेद्य	-	अनुभव करने योग्य, बताने योग्य
उत्पाद्या	-	अर्जित की हुई

नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा	-	नए ने नए अर्थ संदर्भों को उद्घाटित करने वाली शक्ति
मनस्ताप	-	आंतरिक दुख
स्वानुभूति	-	अपनी भोगी हुई अनुभूति
इतिवृत्तात्मकता	-	वर्णनात्मकता, स्थूल विवरण की अधिकता

2.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. भारतीय आचार्यों की काव्य हेतु चर्चा पर विचार कीजिए।
2. 'प्रतिभा' पर विचार करते हुए 'व्युत्पत्ति' तथा 'अभ्यास' पर प्रकाश डालिए।
3. प्रतिभा तथा कल्पना के साम्य-वैषम्य पर विचार करते हुए सृजन कर्म में उनकी भूमिका का महत्व प्रतिपादित कीजिए।
4. पश्चिमी आलोचना सिद्धांतों के आधार पर काव्य प्रेरणा के प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा कीजिए।

इकाई 3 काव्य प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 संस्कृत के आचार्यों-कवियों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन
3.3 पाश्चात्य चिंतकों-रचनाकारों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन
3.3.1 पश्चिम मे काव्य प्रयोजन की चर्चा का आरंभ
3.3.2 नवजागरणकाल की चेतना और काव्य प्रयोजन दृष्टि
3.3.3 नव-आभिजात्यवाद और नव-प्लेटोवाद
3.3.4 स्वच्छंदतावाद
3.3.5 'कला कला के लिए' सिद्धांत का प्रतिपादन
3.3.6 'कला जीवन के लिए' सिद्धांत
3.3.7 मार्क्सवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन
3.3.8 मनोविश्लेषणवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन
3.4 हिंदी के रचनाकारों-आलोचकों के काव्य प्रयोजन से संबंधित विचार
3.4.1 आदिकाल और मध्यकाल के कवियों की काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टि
3.4.2 आधुनिककाल के रचनाकारों-आलोचकों की काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टि
3.5 मूल्यांकन
3.6 शब्दावली
3.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढने के बाद आप :

- काव्य प्रयोजन संबंधी चर्चा की आवश्यकता और सार्थकता पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- भारतीय और पाश्चात्य जगत के काव्य प्रयोजन विषयक चिंतन के बारे में बता सकेंगे; और
- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि साहित्य का प्रमुख प्रयोजन क्या है।

3.1 प्रस्तावना

साहित्य का मूल प्रयोजन या उद्देश्य मानव-संवेदना का विस्तार, संस्कार और परिष्कार करना है। इसी अर्थ में सृजन को सांस्कृतिक-प्रक्रिया कहा जाता है। यह प्रक्रिया मानव की भावात्मक और ज्ञानात्मक संवेदना को संशोधित-सम्पादित करती हुई बृहत्तर मानवीय संवेदना और सामाजिकता में निखार लाती है। देश-काल की समस्याओं, चिंताओं, चुनौतियों, द्वंद्वों-तनावों-संघर्षों के प्रति साहित्य हमें जागरूक बनाता है। सृजन का उद्देश्य यही होता है कि वह मानवीय-चेतना को विकसित करे और मानव-चेतना के सीमांतों का विस्तार करे। मनुष्य की मनुष्यता या मानव की मानवीयता में वृद्धि करे। यही कारण है कि सृजन-कर्म का श्रेय है आनंद और प्रेय है लोकमंगल। इन्हीं दो प्रयोजनों के अंतर्गत साहित्य के सभी प्रयोजन समाहित हो जाते हैं।

देश-विदेश के काव्यशास्त्र में सृजन-प्रेरणा, सृजन-प्रक्रिया, सृजन-हेतु के साथ ही साथ सृजन-कर्म के प्रयोजन या उद्देश्य की चर्चा का आरंभ हुआ है। कारण, मानव का सृजन-कर्म न तो प्रयोजन-रहित होता है और न हो सकता है। आधुनिक युग में काव्य प्रयोजन या सृजन-दृष्टि की चर्चा के अंतर्गत 'विचारधारा' (आइडियोलॉजी) को विशेष रूप से महत्व मिला है। उत्तर-आधुनिकतावाद, 'उत्तर पूँजीवाद' भी एक विचार है, विचारधारा है और उसके पीछे समृद्ध देशों की 'आइडियोलॉजी' है, उपभोक्तावादी साहित्य और संस्कृति का प्रयोजन है।

भारतीय चिंतन-परम्परा आरंभ से ही सृजन-कर्म की महिमा का गुणगान करती रही है। संस्कृत के प्राचीन रचनाकार मंगलाचरण में ही सृजन के प्रयोजनों का प्रायः निर्देश कर देते हैं। संस्कृत के साहित्यशास्त्र-मर्मज्ञ आचार्य भामह, रुद्रट, वामन, कुन्तक, भोज, मम्मट, विश्वनाथ, रसगंगाधरकार आदि ने ग्रंथारम्भ में ही काव्य प्रयोजनों की चर्चा की है। भरत-मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य या काव्य

प्रयोजन की विस्तार से चर्चा की है, किंतु इस चर्चा को ग्रंथारंभ में प्रस्तुत नही किया। 'लोक' को 'पंचम वेद' या 'नाट्य वेद' कह देने के पीछे गहरे प्रयोजन-संदर्भ मिलते हैं। शोक से व्याकुल, दुःख से बेचैन, तपस्या की अग्नि से प्रकाशवान, गृहस्थ-तप में संघर्षशील, लोक-कल्याण में समर्पित - सभी तरह के लोगों में यह 'लोक-वेद' नाटक 'विश्रान्ति' या चित्त की थकान को दूर करने वाला कहा गया है।

प्रस्तुत इकाई में काव्य प्रयोजन-चर्चा में भारतीय और पाश्चात्य परम्परा की संक्षेप में चर्चा की जाएगी और इन दोनों चिंतन परम्पराओं से प्रभावित हिंदी के आचार्यों-रचनाकारों-पाठकों के द्वारा निर्दिष्ट काव्य प्रयोजनों पर प्रकाश डाला जाएगा। इस प्रकार, चर्चा को तीन धाराओं में विभाजित होगी :

(क) संस्कृत के आचार्यों-कवियों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन
(ख) पाश्चात्य चिंतकों-रचनाकारों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन
(ग) हिंदी के रचनाकारों-आलोचकों के काव्य प्रयोजन से संबंधित विचारों की चर्चा।

3.2 संस्कृत के आचार्यों-कवियों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

संस्कृत के रचनाकारों और आचार्यों ने जीवन के सभी पक्षों की अभिव्यक्ति या समग्रता में जीवन-सौंदर्य की अभिव्यक्ति को 'काव्य प्रयोजन' या सृजन-उद्देश्य माना है। इसका प्रमाण यह है कि वे जीवन में 'पुरुषार्थ चतुष्ट्य' (चतुर्वर्ग) अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - चारों पक्षों की सिद्धि चाहते हैं। इस बात पर विचार हो सकता है और हुआ भी है कि 'अर्थ', 'धर्म', 'काम' और 'मोक्ष' से ठीक तात्पर्य क्या है? दरअसल, 'धर्म' 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष' जैसे पारिभाषिक शब्दों पर विचार करने की आज आवश्यकता है क्योंकि आज का मानव 'मोक्ष', 'निर्वाण', 'चित्त समाधि', 'आत्म-विश्रान्ति', 'संविद-संवाद', 'रस या आनंद', 'लोकोत्तर या अलौकिक आनंद' से न तो मानसिक-बौद्धिक धरातल पर जुड़ा है और न ही जुड़ना चाहता है। आज का अधिकांश सृजन आत्म-निर्वासन, पीड़ा-संत्रास-विडम्बना के 'वास्तविक अनुभवों' की यथार्थ अभिव्यक्ति है अपने भोगे हुए अनुभव-सत्यों की ईमानदारी से अभिव्यक्ति ही को सृजन का प्रयोजन मानता है। इस सृजन का प्रयोजन 'रिझाना' नहीं 'खिजाना' है, बौद्धिक स्तर पर जागरूक बनाना है।

संस्कृत के आचार्य ने अपने देश और काल की सामाजिकता के संदर्भ पर ध्यान देकर कहा था - काव्य 'धर्म', 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष' का साधन है। आद्याचार्य **भरतमुनि** ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य या काव्य को धर्म, यश, आयु का साधक, लोक-कल्याणकारी, बुद्धि का वर्द्धक तथा लोकोपदेशक माना है -

धर्म्यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ (नाट्यशास्त्र)

भरत के बाद आचार्य **भामह** ने 'काव्यांलकार' नामक अपने ग्रंथ में 'पुरुषार्थ चतुष्ट्य' के अतिरिक्त कलाओं में विलक्षणता, प्रीति एवं कीर्ति को भी काव्य-कला का प्रयोजन माना। काव्य में सभी कलाओं की पोषक भूमिका को मानते हुए कहा है कि

धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम्॥ (काव्यांलकार 1.2)

इन काव्य प्रयोजनों को गिनाते समय भामह के सामने भरत का आदर्श था। शायद यही कारण है कि इन दोनों के काव्य प्रयोजन चर्चा में काफी साम्य है। भरत के 'धर्म्य' और 'यशस्य' विशेषण भामह के यहाँ क्रमशः 'धर्म' और 'कीर्ति' रूप में निर्दिष्ट हुए हैं। भरत का 'बुद्धि विवर्धन' ही भामह में 'वैचक्षण्यं कलासु' का पर्याय बनकर आया।

प्रश्न उठता है कि काव्य प्रयोजन से कला या कलाओं की विलक्षणता का क्या अर्थ-संदर्भ? इसका उत्तर है कि वैदिक साहित्य में गद्य-पद्य में लिखी गई कहानियों में प्रतीक कला का अद्भुत-कौशल के साथ विकास हुआ। अलंकृत काव्य, जिसकी रचना परवर्ती कालों में हुई, अपना प्रधान प्रयोजन 'रस-सृष्टि' घोषित कर देता है। रस-चिंतन परम्परा में प्राचीनों के दार्शनिक-धार्मिक तत्ववाद का निचोड़ विद्यमान था। 'सच्चिदानंद स्वरूप' ब्रह्म या रस ही महाशिव (सभी कलाओं के सूत्रधार नटराज) की आद्य सृजन-सिसृक्षा ही शक्ति (पार्वती, महामाया, त्रिपुर सुंदरी, भुवन मोहिनी, आद्याशक्ति) के रूप में वर्तमान है। जब शिव को लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है तो यही महाशक्ति रूपी महामाया जगत् को प्रपंचित या प्रबुद्ध करती है। शिव की लीला सखी होने के कारण उन्हें 'ललिता' भी कहा

जाता है। यह लोक-रचना उन (पार्वती जी) की क्रीड़ा है, इस क्रीड़ा में उन्हें 'रस' या 'आनंद' आता है, चिन्मय शिव उनके सखा है - सदानंद उनका आहार है - आनंद ही उनका भोग्य है और सुमनसों या प्रमाताओं का हृदय ही उनका निवास-स्थल है। इसलिए कला का प्रयोजन होता है - 'आनंद का विस्तार', 'प्रेमरूपा शक्ति के सौंदर्य की सृष्टि', 'कलानिधि', 'काव्य-कला की रसज्ञा'। जहाँ भी सौंदर्य के आस्वादन का रस है वहाँ महामाया का यही रूप विद्यमान है। अतः ललिता ही कला और आनंद की प्रेरणा है और निधि भी। वे समस्त काव्य-कला के प्रयोजनों-प्रेरणाओं के रूप में विराजती हैं। विशेष बात यह है कि शैव-सिद्धांत में 'कला' का प्रयोग माया के कंचुक रूप में है - यह तो कला स्थूल रूप है। पर आगमों तथा तंत्रों में 'कला' का दार्शनिक अर्थ प्रबल रहा है - काल, नियति, राग, विद्या-कला - ये पाँच माया के कंचुक हैं। रचनाकार इन पाँचों कंचुकों में अपने को बाँधता भी है और खोलता भी है। इस अर्थ में रचना समय में होकर भी समय का अतिक्रमण है - काल का अतिक्रमण करने की कला। व्यष्टि-चैतन्य को तोड़कर समष्टि-चैतन्य में समाहित होने की कला आत्म-विश्रान्ति का आनंद है। इसी को **अभिनवगुप्त** ने अपनी महान् प्रतिभा से 'रस' प्रयोजन में कहा है कि 'तन रस एव वस्तुतः आत्मा.....'। चर्वण का पर्यवसान भाव या रस में होता है। काव्यशास्त्र से संबंधित अभिनवगुप्त के दोनों ग्रंथ - 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोकलोचन' में रस-प्रयोजन की महिमा है। इसी रस-महिमा के कारण मम्मट ने 'सद्यः पर निर्वृति' की व्याख्या में कहा है कि 'सकल प्रयोजन मौलिभूतं समानान्तरमेव रसास्वादसमुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरभानन्दम।....?' अर्थात् इन सबसे अधिक काव्य से आनंद की प्राप्ति होती है जो सभी प्रयोजनों का प्रयोजन है जो बिना किसी व्यवधान के रस-आस्वादन से उद्भूत होता है और जिसकी चर्वणा (भोग) के समय अन्य सभी प्रकार का ज्ञान विगलित हो जाता है। इस प्रकार, कला का उद्देश्य है - रस की प्रमाता में सृष्टि। रस अर्थात् आनंद। रस-प्रयोजन को आनंदवादी-परम्परा ने यथार्थ अर्थ-संदर्भ दिया है।

संस्कृत के आचार्यों के सामने प्रायः भामह का काव्य प्रयोजन संबंधी मत आदर्श रहा। **रुद्रट** ने पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य प्रयोजन माना तथा उन्होंने काव्य प्रयोजन में 'आह्लाद' को प्रधानता देते हुए भी 'चतुर्वर्ग' की चर्चा की है। कुन्तक ने कहा -

धर्मादिसाधनोयायः सुकुमार क्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥ (वक्रोक्ति जीवितम 1-3)

वामन तथा भोज ने कीर्ति (यश) और प्रीति (आनंद) को काव्य प्रयोजन माना -

(1) **काव्यं सदृष्टार्थ प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात।** (वामन, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 1-1-5)

(2) **निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।**
रसान्वतः कविः कुर्वन कीर्तिं प्रीतिंचविन्दति॥

विश्वनाथ ने 'पुरुषार्थ चतुष्टय' या चतुर्वर्ग और अग्निपुराणकार ने त्रिवर्ग (मोक्ष को छोड़कर) को ही काव्य प्रयोजन स्वीकार किया है। रुद्रट और कुन्तक ने चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति के साथ अनर्थ का शमन, विपत्ति का निवारण, रोग से मुक्ति, मनोवांछित वरदान की प्राप्ति, व्यवहारौचित्य का परिज्ञान, हृदयाह्लाद (अंतश्चमत्कार) कहकर आचार्य मम्मट के लिए भूमि तैयार की। **मम्मट** ने भरत से लेकर कुन्तक तक की काव्य प्रयोजन चर्चा को समेटते हुए कहा -

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ (काव्यप्रकाश, 1/2)

मम्मट ने काव्य प्रयोजन की सूची में कवि और पाठक, दोनों के काव्य प्रयोजनों को प्राथमिकता के आधार पर प्रस्तुत कर दिया। उनके मत से -

1. **यश :** कविता का प्रयोजन कवि को यश दिलाना है। मनुष्य की यश पाने की इच्छा तीव्र होती है और काव्य सृजन के माध्यम से वह इस इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। कालिदास जैसा कवि भी 'यशः प्रार्थी' होने की आंतरिक अभिलाषा रखता है और आधुनिक रचनाकार भी।

2. **धन :** कवि को कविता से धन की प्राप्ति होती है। राज्याश्रय प्राप्त कवि अपने आश्रयदाताओं से धन पाते थे। हिंदी के रीतिकालीन कवि बिहारी- पदमाकर-देव ने राजाओं से अपार सम्पत्ति प्राप्त की थी। बिहारी लाल को हर दोहे पर अशर्फी मिलना प्रसिद्ध है।

3. **व्यवहार ज्ञान :** कवि, कविता में जीवनानुभवों का खरापन पैदा करके ही बड़ा होता है। हिंदी कविता में अमीर खुसरो, तुलसी, कबीर, रसखान, रहीम, भारतेंदु, निराला, मुक्तिबोध का

रचना-कर्म हमें जीवन का व्यावहारिक ज्ञान देता है। हिंदी प्रदेशों में आज भी रहीम-तुलसी-कबीर आदि जनता की ज़ुबान पर रहते हैं। बात-बात में उनकी पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए लोग अपने कथन की प्रामाणिकता की पुष्टि करते हैं।

4. **शिवेतरक्षतये :** कविता से अमंगल का नाश होता है - यह विश्वास बहुत पुराना है। रौद्र स्त्रोत, दुर्गा सप्तशती, हनुमान-चालीसा, रामचरितमानस, सूरसागर आदि का पाठ इस दृष्टि से भी किया जाता है।

5. **सद्यः परनिर्वृतये :** अर्थात् तत्काल दुःख का नाश और आनंद की प्राप्ति। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक या काव्य का प्राण 'रस' को माना है। 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः' नियन्ता 'रस' ही है। भरतमुनि ने कहा है कि 'मेरे द्वारा रचित नाट्य दुःख से पीड़ित, थके-माँदे, शोक-संतप्त, असहाय लोगों के लिए समय पर विश्रान्ति प्रदान करने वाला है।' आगे चलकर भारतीय काव्यशास्त्र में में 'रस' के जिस 'संविद्विश्रान्तिमय' स्वरूप का विकास हुआ, उसका बीज भरत में विद्यमान है। अभिनवगुप्त ने नट-निष्ठ-रस को सामाजिक या सहृदय-निष्ठ तक पहुँचाकर सहृदय के रस का प्रतिपादन किया। कविगत रस और सहृदयगत रस का प्रामाणिक विवेचन करते हुए अभिनव ने 'रस' को ही काव्य का प्रयोजन माना। आगे चलकर संस्कृत और हिंदी की चिंतन परंपरा में जिन आचार्यों ने रस के आनंद-रूप आस्वाद को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया वे इसी परंपरा का विस्तार कर रहे थे। हिंदी में हरिऔध, जयशंकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र आदि ने रस को ही काव्य का सर्वस्व माना है। इधर नयी कविता के काल में रस और रस-सिद्धांत का खण्डन किया गया है।

6. **कान्तासम्मित उपदेश :** कविता मधुर भाषिणी स्त्री की तरह लोकहितकारी उपदेश देती है। कान्ता का अर्थ है - पति का हित चाहने वाली स्त्री। (जैसे रावण की पत्नी मन्दोदरी जो अपने पति को बराबर समझाती है कि दूसरों की पत्नी और सम्पत्ति का हरण करने वाले का नाश होता है अतः सीता वापस कर देनी चाहिए।)

इस प्रकार, भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य प्रयोजनों की चर्चा को कवि और सहृदय, दोनों की दृष्टि से की गई है। उदाहरण के लिए, मम्मट के आधार पर कहा जा सकता है कि यश और अर्थ तो मूलतः कवि को ही प्राप्त होते हैं और सद्यःपरनिर्वृति (रस या आनंद) व्यवहार-ज्ञान, कान्तासम्मित उपदेश सहृदय को। इनमें से प्रीति या आनंद की स्थिति तो सहृदय के साथ स्पष्ट है, परंतु व्यवहार-ज्ञान, वस्तुतः शिक्षा का ही पर्याय है। कविता मानव को जीवन के सभी क्षेत्रों के प्रति जागरूक बनाती है। इस प्रकार, मम्मट या अन्य संस्कृत के आचार्यों के मत से काव्य के प्रधान प्रयोजन दो हैं - (1) शिक्षा - या लोकमंगल (2) रस - प्रीति - या आनंद। इन दोनों में भी आनंद को ही 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' कहा भी गया है। कुछ आचार्य चतुर्वर्गफल-प्राप्ति (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) जीवन के पुरुषार्थों की सिद्धि को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। इस कथन के पीछे मूल भावना यह रही है कि जीवन के सभी पक्षों की समग्रता में सिद्धि ही काव्य की चरम सिद्धि है।

3.3 पाश्चात्य चिंतकों-रचनाकारों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

3.3.1 पश्चिम में काव्य प्रयोजन की चर्चा का आरंभ

पाश्चात्य विद्वानों ने समय-समय पर काव्य प्रयोजन पर विचार किया है। मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र भी इस विषय में सहायक रहे हैं क्योंकि इनके द्वारा कवि-मानस की सृजन-प्रक्रिया को काफी दूर तक जानने-समझने की कोशिश की गई है। समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और मार्क्सवाद में भी काव्य प्रयोजन के अंतर्गत मूल्य-चेतना पर विचार किया है। पश्चिम में काव्य प्रयोजन को लेकर दो दृष्टियाँ सक्रिय रही हैं - (1) कला कला के लिए (2) कला जीवन के लिए। काव्य प्रयोजन पर विचार करते समय हम परम्परा और इतिहास को ध्यान में रखते हुए प्लेटो से चर्चा का आरंभ करेंगे।

प्लेटो (427-347 ई.पू.) का आविर्भाव एथेन्स के पतनकाल में हुआ था। आध्यात्मिक और नैतिक ह्रास के इस युग में प्लेटो की मूल चिंता 'आदर्श राज्य की स्थापना', 'नागरिकों की उचित शिक्षा', 'चरित्र-निर्माण', 'नैतिक आदर्शों के द्वारा नैतिक मूल्यों की महत्व-प्रतिष्ठा' पर आधारित थी। प्लेटो के मत के विषय में यह सर्वविदित है कि वे सत्य और शिव (लोकमंगल) को आधार बनाकर ही काव्य की निंदा करते हैं। प्लेटो का कवि के विरूद्ध निर्णय 'कवियों के लिए आदर्श-राज्य में प्रवेश-निषेध' ही इसलिए है कि दैवी-प्रेरणा से विक्षेपावस्था को प्राप्त कवि-पाठक की भावनाओं को उत्तेजित करता है, भड़काता

है, अनियंत्रित करता है, फैलाता है, उन्हें सुखाकर नियंत्रित नहीं करता। कविता का यह अनैतिक स्वभाव हानिकारक है, अशिव है। प्लेटो का कहना है कि 'अतएव हम न्यायपूर्वक एक सुशासित नगर में उसका (कवि का) प्रवेश-निषिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि वह आत्मा के इस पक्ष (आवेग) को उद्‌बुद्ध, पोषित और दृढ़ करता है तथा विवेक पक्ष को नष्ट करता है।' प्लेटो ने काव्य का निषेध 'अनुकरण का अनुकरण' (सत्य से तीन गुना दूर) होने मात्र से नहीं किया था बल्कि पाठक पर उसके अनैतिक प्रभाव के कारण किया था। प्लेटो का काव्य प्रयोजन संबंधी निर्णय स्पष्ट है कि मानव-प्रकृति में जो महान और शुभ है, नैतिक और न्यायपरायण है उसका उद्‌घाटन ही कवि कर्म का अभीष्ट प्रयोजन होना चाहिए। संक्षेप में, कवि-दार्शनिक प्लेटो ने कला के आनंद-सिद्धांत से आगे बढ़कर लोकमंगल सिद्धांत की महत्व-प्रतिष्ठा की है।

अरस्तू ने कदाचित प्लेटो के इसी विचार को स्वीकार करते हुए अपने 'काव्यशास्त्र' में काव्य के सत्य और शिव का तर्कपूर्ण रीति से प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने दो-तीन प्रसंगों में काव्य प्रयोजन की ओर संकेत किया है। 'काव्यशास्त्र के आरंभ में ही उन्होंने अनुकरण रूप काव्य के दो स्पष्ट प्रयोजन माने हैं : (i) शिक्षा या ज्ञानार्जन (ii) आनंद। अरस्तू का प्रसिद्ध कथन है - 'और आरंभ में वह (मनुष्य) सब कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनंद भी कर्म सार्वभौम नहीं, अनुभव इसका प्रमाण है - जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की यथावत प्रतिकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है। इस विषय में अरस्तू का कथन है - 'इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यंत प्रबल आनंद प्राप्त होता है - केवल दार्शनिकों को ही नहीं, सामान्य व्यक्ति को भी।....अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है।'

प्रश्न उठता है कि इस काव्यानंद का स्वरूप क्या है? अरस्तू का कथन है, 'शायद वह अपने मन में कहता है, 'अरे यह तो अमुक है।' क्योंकि यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा, तो आपका आनंद अनुकरण-जन्य न होगा, वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।' इसका अर्थ हुआ कि काव्य का आनंद आध्यात्मिक आनंद न होकर भौतिक आनंद है, परंतु वह सामान्य आनंद न होकर अनुकरण-जन्य आनंद है। अरस्तू के अनसार यह आनंद एक विशिष्ट प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का आनंद है। प्रत्यभिज्ञान का अर्थ है - किसी देखी हुई वस्तु को पहचानने का आनंद जो एक ओर तो वस्तु को देखने के आनंद से भिन्न है और दूसरी ओर शिल्प-विधान या कौशल की चमत्कार-क्षमता से भिन्न आनंद। यहाँ 'अनुकृति' का अर्थ है - भाव-कल्पनात्मक पुनर्निर्मिति। काव्यानंद न तो कोरा ऐन्द्रिय आनंद है, न बौद्धिक आनंद है, न सामान्य आनंद है, न आध्यात्मिक आनंद। यह तो अनुकरण-जन्य प्रत्यभिज्ञान का आनंद है। आठरहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ आलोचक एडिसन ने इसे ही 'कल्पना का आनंद' नाम दिया है। अरस्तू के अनुसार काव्य का सार्वभौमिक सत्य मूलतः मानव-सत्य का पर्याय है। काव्य में कलात्मक प्रभाव नैतिक भावना का पोषक हो। इस प्रकार, अरस्तू ने कलात्मक मूल्यों और नैतिक मूल्यों में भेद नहीं किया। त्रासदी के विवेचन में वे कहते हैं कि 'त्रास तथा करुणा के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का विरेचन त्रासदी का उद्देश्य होता है।' व्यापक अर्थ में काव्य-मात्र का प्रयोजन है - विरेचन। अरस्तू का 'विरेचन' से तात्पर्य है - भाव-परिष्कार, भाव-उन्नयन। अतः अरस्तू के 'विरेचन सिद्धांत' की चर्चा त्रासदी तक सीमित न रहकर आज व्यापक रूप में सभी काव्य-रूपों से संबद्ध मानी जाती है। प्रसिद्ध आधुनिक अमरीकी आलोचक जॉन क्रो रैन्सम ने काव्य के दो पक्षों की विशेष चर्चा की है - 'दि माइमेटिक एंड दि केथारटिक' अनुकरण तथा रेचन पक्ष। साहित्यशास्त्र के साथ मनोविश्लेषशास्त्र भी काव्य प्रयोजन की चर्चा में विरेचन-सिद्धांत को महत्वपूर्ण मानता है।

पाश्चात्य साहित्य-चिंतन में प्लेटो-अरस्तू के बाद तीसरा महत्वपूर्ण नाम **लांजाइनस** का है। उनका एक ही ग्रंथ उपलब्ध है - 'परिइप्सुस' अर्थात् 'उदात्त के विषय में' अथवा 'काव्य में उदात्त-तत्व'। लांजाइनस का 'उदात्त' से तात्पर्य वह नहीं है जिसे वक्तृत्व-विशारद 'उदात्त-शैली' (ग्रेंड स्टाइल) कहते हैं। 'उदात्त के विषय में' लांजाइनस कहते हैं - 'वह वाणी का ऐसा वैशिष्ट्य है चरमोत्कर्ष है जिससे महान कवियों और इतिहासकारों को जीवन में प्रतिष्ठा और यश मिलता है। कारण यह है कि उनका असाधारण प्रतिभा से प्रणीत लेखन पाठक के प्रबोधन (पर्सुएशन) मात्र के लिए नहीं होता, अपितु उसके मन में आह्लाद (Ecstasy) उत्पन्न करने में सक्षम होता है।' उदात्त की शक्ति से पाठक कृति-प्रभाव को 'आत्मातिक्रमण' के रूप में ग्रहण करता है। उदात्त के अंतर्गत कोरे चमत्कारवाद या वागाडम्बर को स्थान नहीं है - महान सृजन महान आत्मा की प्रतिध्वनि है। 'किसी रचना के सृजनात्मक कौशल, समुचित वस्तु-योजना तथा वस्तु-विन्यास, दो-एक युक्तियों में उद्‌भासित नहीं होते, बल्कि वे कृति की पूरी बनावट के बीच से क्रमशः उभरते हैं।' वास्तव में लांजाइनस की दृष्टि मानव-कल्पना में

निहित विराट्ता की ओर थी। उदात्त में मानव और प्रकृति, दोनों का विराट सम्मिलित रहता है। इस प्रकार, 'उदात्तता' भी एक विशेष अर्थ में भाव-परिष्कार, भाव-उन्नयन या विरेचन सिद्धांत ही है। काव्य प्रयोजन को लेकर लोंजाइनस ने रीतिवादी-चमत्कारवादी काव्य प्रयोजन का खण्डन करते हुए लोकमंगलवादी (शिक्षा और आनंद) काव्यशास्त्र का समर्थन किया। महान काव्य वही है जो सभी को सब कालों में आनंद प्रदान करे और समय जिसे पुराना न कर सके - वह नूतन प्रतीत होता रहे। इस प्रकार, 'आनंद' या 'आत्मातिक्रमण' ही साहित्य का प्रधान प्रयोजन है।

नव्य-प्लेटोवाद और **नव्य-अभिजात्यवाद** के उदयकाल में **प्लॉटिनस** ने दर्शन पर आधारित सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उनके विचार से कविता परम चैतन्य तक पहुँचने की सीढ़ी का काम करती है। इस तरह, कविता के दो प्रयोजन हैं - (1) आनंद; और (2) परम चेतना के सौंदर्य का साक्षात्कार।

3.3.2 नवजागरणकाल की चेतना और काव्य प्रयोजन दृष्टि

अंधकार-युग को चीरकर नवजागरणकाल का उदय विश्व-इतिहास की एक बड़ी घटना है। 'अंधकार-युग' का विस्तार ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी से तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल में साहित्य और कला का बहुत प्रामाणिक विवेचन नहीं मिलता। नवजागरणकाल में साहित्य और कला के क्षेत्र में नवीन चेतना का प्रबल विस्फोट होता है। इस युग में ईसाई धर्मतंत्र ढह गया। विज्ञान के प्रादुर्भाव से नए-नए अन्वेषण तथा आविष्कार हुए। धर्म और दर्शन का नया संस्करण किया गया। कला, विज्ञान, राजनीति, समाज व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। नई चेतना का प्रथम उन्मेष इटली में देखने को मिला और इसका विस्तार फ्रांस तथा जर्मनी होते हुए इंगलैंड तक पहुँचा। एक प्रकार से यूरोप का 'पुनर्जन्म', 'नया जन्म' हुआ। इसी कारण इस युग को 'नवजागरण' या 'पुनर्जागरण' (Renaissance) की संज्ञा प्रदान की गई है।

नवजागरण युग में क्लासिकी (प्राचीन यूनानी-रोमन) विद्या (ज्ञान) के पुनरुद्धार और प्रत्यावर्तन (रिवाइवल) का दौर चला। किंतु 'पुनरुद्धार' और 'प्रत्यावर्तन' मात्र को 'नवजागरण' (Renaissance) समझ लेना भूल होगी। नवजागरण प्राचीन ज्ञान के प्रति आकर्षण और उसके पुनः अवगाहन की प्रवृत्ति के साथ रेनेसाँ या नवजागरण अपने समय के वर्तमान को भी तलाशने-परखने और सुधारने-सँवारने का काम करता है। विज्ञान और तर्क का आधार ग्रहण करते हुए रूढ़ और जर्जर जीवन-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों का बहिष्कार करता है। इस तरह पंद्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय रेनेसाँ ने मध्ययुगीनता के बंधनों से मानव को मुक्त कर व्यक्ति-चेतना, व्यक्तित्व-चेतना, व्यक्ति-स्वातंत्र्य भावना, सृष्टि के केंद्र में मानव की प्रतिष्ठा की और पादरीवाद में अनास्था, परलोकवाद के प्रति संशय तथा नवीन तर्कवाद को प्रस्तुत किया। साहित्य और कला में परलोकवाद के स्थान पर इहलौकिक चिंतन, ऐहिक मूल्य-चेतना का महत्व बढ़ा। धर्मनिरपेक्ष मानववाद के उदय ने नए बुद्धिजीवियों के लिए चिंतन का नया पथ प्रशस्त किया। स्पेंसर, मार्लो और शेक्सपियर की सृजन-दृष्टि इसी नवीन ऊर्जा से अनुप्राणित है। **इस साहित्य का प्रयोजन है - मानव की संवेदनात्मक ज्ञानात्मक चेतना का विकास और परिष्कार।**

3.3.3 नव-आभिजात्यवाद और नव-प्लेटोवाद

नवजागरण-युग के साहित्य में व्यक्ति-स्वातंत्र्य भावना के अतिवाद से जब अराजकता फैलने लगी तो आभिजात्यवाद की ओर झुकाव बढ़ने लगा। नव्य-आभिजात्यवाद के उदय से साहित्य के क्षेत्र में असर पड़ा। साहित्य में यह प्रभाव फ्रांस में दिखाई दिया, जहाँ अरस्तू और होरेस के सिद्धांतों की नवीन व्याख्याएँ शुरू हुईं। कार्लीन, रासीन, बुअलो ने अरस्तू के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर नाट्य-लेखन के नए नियम बनाए। कथ्य तथा संरचना की गरिमा, भव्यता तथा संतुलन को श्रेष्ठ कृतियों के लिए प्रतिमान बनाया।

नव-आभिजात्यवाद (नियो-क्लासिसिज्म - Neo Classicism) का प्रवेश अठारहवीं शताब्दी के इंगलैंड में हुआ। इससे पूर्व सत्रहवीं शताब्दी में बेन जॉनसन जैसे रचनाकार और सिद्धांतशास्त्री ने ग्रीक-लैटिन नियम-आदर्शों के पालन पर बल दिया था। किंतु अठारहवीं शताब्दी के इंगलैंड में नव-आभिजात्यवादी सिद्धांतों की स्थापना में डॉ. सैम्युअल जॉनसन, जॉन ड्राइडन, अलेक्ज़ेंडर पोप, जोसेफ एडिसन आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इन सभी ने साहित्य-प्रयोजन के रूप में **आनंद और नैतिक आदर्शों की शिक्षा** को महत्व दिया।

3.3.4 स्वच्छंदतावाद

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में नव-आभिजात्यवाद के साथ-साथ नव-मानववाद का भी विकास हुआ। इस मानववाद में न केवल मानव को विश्व के केंद्र में माना गया - बल्कि आत्मवाद की भी खास ढंग से

प्रतिष्ठा हुई। साहित्य और कला के क्षेत्र के रीतिवाद का सृजन में विरोध बढ़ने लगा और रचनाकार आत्माभिव्यक्ति के लिए बेचैनी व्यक्त करने लगे। औद्योगिक क्रांति और सामंतवादी ढाँचे के ढह जाने के कारण समाज व्यवस्था में परिवर्तन का सिलसिला शुरू हुआ। इसी परिवेश ने फ्रांसीसी राज्य-क्रांति की ज़मीन तैयार की जिसमें समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना - 'आंतरिक पुकार' बन गई। यह तीन बातें ही सृजन का प्रयोजन बन गईं जिनकी अनेक रूप-विधाओं (काव्य, चित्र-संगीत आदि) में अभिव्यक्ति हुई। नव्य-आभिजात्यवादी नियम-संयम-रूढिबद्धता के विरोध में स्वच्छंदतावाद ने जन्म लिया। कविता के क्षेत्र में इस विद्रोही प्रवृत्ति ने विलियम ब्लेक (1757-1827), सैम्युअल कॉलरिज (1772-1834), विलियम वर्डसवर्थ (1770-1850) शैले, कीट्स, बायरन आदि को जन्म दिया। इन सभी स्वच्छंदतावादी कवियों के सृजन का प्रयोजन है - **आत्म-साक्षात्कार, आत्म-सृजन और आत्माभिव्यक्ति। इस तरह मानव की मुक्ति-कामना ही 'स्वच्छंदतावाद' में सृजन का प्रयोजन बनकर उपस्थित है।** प्रगीत-विधा ने आत्माभिव्यक्ति को विशेष अवसर दिया। स्वच्छंदतावादी सृजन आभिजात्यवादी सृजन-प्रयोजन का विरोधी इस अर्थ में है कि वह नियम, संयम-संतुलन, तर्क की अपेक्षा, प्रकृति, स्वच्छंदता, मुक्त अभिव्यक्ति, कल्पना, भावावेग में विश्वास करता है। जीवन के आनंदवादी-सौंदर्यवादी-कलावादी मूल्य इसमें प्रधान हैं। सुंदर के साथ रहस्य, अद्‌भुत, वैचित्र्य में उसकी रुचि है। 'सुंदर के साथ अद्‌भुत के संयोग' को स्वच्छंदतावादी कला का प्राण-तत्व माना जा सकता है। काव्य कला में कल्पना शक्ति का अबाध विस्तार हुआ - कॉलरिज-वर्डसवर्थ का योगदान इस क्षेत्र में स्मरणीय है। वर्डसवर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' (1798) की भूमिका में कहा कि कविता हमें आनंद प्रदान करती है। विद्वानों ने स्वच्छंदतावाद और भारतीय रस-सिद्धांत की तुलना से यह सिद्ध किया है कि आनंदवादी-मूल्य और कलावादी-मूल्यों में अद्‌भुत समानता है। डॉ. नगेन्द्र ने दोनों की तुलना के बाद निष्कर्ष रूप में कहा है - 'स्वच्छंदतावाद का आनंदवाद के साथ घनिष्ठ संबंध है। शैले, वर्डसवर्थ, कॉलरिज - यहाँ तक कि रुग्ण कीट्स और आस्थाविहीन-बायरन में भी आनंद का स्वर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मुखर है, शैले का मानवता की मुक्ति में अटूट विश्वास, वर्डसवर्थ का सर्वात्मवाद, कॉलरिज का आत्मवाद, कीट्स की सौंदर्य के प्रति उल्लासपूर्ण आस्था और बायरन का जीवन के प्रति अबाध उत्साह आनंदवाद के ही विभिन्न रूप हैं।' (रस-सिद्धांत, पृ.332)

3.3.5 'कला कला के लिए' सिद्धांत का प्रतिपादन

एक अर्थ में स्वच्छंतावाद की प्रवृत्ति ने ही 'कलावाद' का रूप धारण किया। सन 1818 में फ्रांस में विक्टर कूजे ने 'कला कला के लिए' सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत को आस्कर वाइल्ड, ए.सी.ब्रैडले, ए.सी.स्विनबर्न, एडगर ऐलन पो, वाल्टर पेटर तथा व्हिस्लर तथा क्लीं जैसे कलाकारों का समर्थन प्राप्त हुआ। इस सिद्धांत के अनुसार 'काव्यकला का संसार स्वायत्त' है - कला का उद्देश्य धार्मिक या नैतिक नहीं है, स्वयं अपनी पूर्णता की तलाश है। इसी स्थिति के कारण उसे किसी उपयोगितावाद, नैतिकतावाद, सौंदर्यवाद, मार्क्सवाद की कसौटी पर कसना गलत है। कला की एकमात्र कसौटी है सौंदर्य-चेतना की तृप्ति। कला उस सौंदर्यानुभूति की वाहक है जो अपना लक्ष्य आप ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में काव्य और कला की जो हालत थी, कलावाद को उसकी प्रतिक्रिया में उठा आंदोलन कहना चाहिए। इस आंदोलन ने स्पष्ट रूप में कहा कि काव्य एवं कला की अपनी पृथक और स्वतंत्र सत्ता है। उसका **एकमात्र प्रयोजन है - आनंद की सृष्टि।** कला और काव्य से प्राप्त आनंद की भी अपनी स्वतंत्र सत्ता है जिसकी तुलना हम आनंद की कोटियों से नहीं कर सकते। 'पोयट्री फॉर पोयट्रीज़ सेक' का अर्थ है - अपने अनुभव की स्वतंत्र सत्ता (This experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrisic value)।

विशेष बात यह है कि स्वच्छंदतावाद, सौंदर्यवाद तथा कलावाद में गहरा भेद है - तीन अलग वैचारिक दृष्टिकोण हैं। कलावादी मानते हैं कि कलात्मक सौंदर्य, स्वाभाविक या प्रकृत सौंदर्य से श्रेष्ठ होता है। इस विश्वास की झलक वादलेयर, रेम्बू, मलार्मे में मिलती है। बिम्बवाद तथा प्रतीकवाद भी एक हद तक कलावाद का ही विस्तार है। बाल्ज़ाक और गाटियर के बाद फ्रांस में पार्नेसियन-सम्प्रदाय का ज़ोर बढ़ने लगा और रूप-विधान पर अधिकाधिक ध्यान केंद्रित हुआ। रूपवाद, संरचनावाद, नयी-समीक्षा, नव-संरचनावाद या उत्तर-संरचनावाद, डेरिडा के विनिर्मितिवाद आदि को 'कला कला के लिए' सिद्धांत-दृष्टि का विकास मानना चाहिए।

3.3.6 'कला जीवन के लिए' सिद्धांत

कलावादी-दृष्टि का खण्डन 'कला को जीवन के लिए' सिद्धांत को मानने वाले विचारकों ने ज़ोरदार शब्दों में किया। इन विचारकों ने 'कलावाद' को पलायनवाद, रीतिवाद, घटिया भोगवाद का समर्थक

सिद्धांत कहा। कभी-कभार इसे व्यक्तिवाद-सौंदर्यवाद से जोड़कर भी निंदित किया। 'कलावाद' पर सीधा हमला मार्क्सवाद ने किया और उसे विकृत रूपवाद कहा।

'कला जीवन के लिए' विचार के संकेत तो अरस्तू से लेकर सरफिलिप सिडनी तंक व्यापक रूप में मिलते हैं। किंतु इस क्षेत्र में **मैथ्यू आर्नल्ड** (1822-1888) का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका उदय रोमाण्टिक-युग की समाप्ति और विक्टोरियन-युग के चरम-वैभवकाल में हुआ था। यही वह समय था जब डार्विन और मार्क्स के विचार सामने आ रहे थे। इंगलैंड का मध्य-वर्ग नैतिक-मूल्यों के पतन पर था और औद्योगिक विकास तथा विज्ञानवाद के अंधड़ में सांस्कृतिक-पतन के लक्षण दिखाई दे रहे थे। आर्नल्ड ने 'धर्म' के स्थान पर 'संस्कृति' को रखते हुए अपनी सांस्कृतिक चिंता व्यक्त की। उन्होंने कविता का **प्रयोजन - जीवन की आलोचना** (Criticism of Life) घोषित किया। 'जीवन की आलोचना ' का अर्थ है - जीवन-सौंदर्य के गहन से गहनतर सत्य या यथार्थ का साक्षात्कार - अर्थात् भीतरी-बाहरी जीवन का समग्रता में अंकन। यह अंकन 'काव्य-सत्य' और 'काव्य-सौंदर्य' के नियमों के अधीन होना चाहिए। वास्तव में 'काव्य-सत्य' से आर्नल्ड का तात्पर्य 'विषय-वस्तु की मूल्यवत्ता' से है और 'काव्य-सौंदर्य' से अभिप्राय है - 'अभिव्यंजनागत सौंदर्य'। उनके विचार से जीवन में नैतिक विचारों का महत्व बहुत अधिक है। नैतिक विचारों की उपेक्षा करने वाली कविता तो जीवन-द्रोही, समाजद्रोही कविता है। बौद्धिकता और विवेक पर आधारित उनकी विचार-दृष्टि उपदेशक की सी है। उनका पूरा दृष्टिकोण शिक्षक और समाज-सुधारक का है। हिंदी में इसी दृष्टिकोण का समर्थन बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि ने किया है। मैथ्यू आर्नल्ड और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में विचारों के स्तर पर गहरी समानता है। साहित्यिक रीतिवाद का खण्डन करने में दोनों ही अपने-अपने ढंग से बेजोड़ हैं।

मैथ्यू आर्नल्ड के बाद **आई.ए.रिचर्डस** ने काव्य की उपयोगता को मूल्यों से सम्बद्ध करके सिद्ध किया। रिचर्डस ने वैज्ञानिक-पद्धति से काव्य की व्याख्या करते हुए कहा कि कविता का लक्ष्य है - 'विरुद्धों में सामंजस्य स्थापित करना'। कलानुभूति या सौंदर्यानुभूति-जीवनानुभूति से भिन्न नहीं है। कलानुभव भी सामान्य जीवनानुभव की कोटि से जुड़ा अनुभव है। अतः कलानुभूति को अद्वितीय अनुभूति नहीं कहा जा सकता। कला का प्रयोजन है - **मानवीय मनोवेगों में सामरस्य और संतुलन स्थापित करना**। इस प्रकार 'आवेगों की शान्ति (संतुष्टि) को काव्य का प्रयोजन कहकर रिचर्डस सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट सामान्यतः सभी प्रयोजनों का, और विशेषतः आनंद का, मूलोच्छेद कर देते हैं। अरस्तू विचेरन के द्वारा भावों के उपशम की बात कहकर भी आनंद का खंडन नहीं करते किंतु रिचर्डस के मत से आनंद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।' (देवेन्द्रनाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ.223) रिचर्डस ने कलावादी-अभिव्यंजनावादी दृष्टि का प्रबल तर्कों से खण्डन किया और मूल्य-सिद्धांत की स्थापना की। काव्य का चरम मूल्य है - कलात्मक परितोष और भाव परिष्कार। कला इसी अर्थ में अनुकरण है कि वह जीवन का 'पुनः सृजन' करती है।

टी.एस.एलियट (1888-1965) ने अपने को क्लासिसिस्ट घोषित करते समय मैथ्यू आर्नल्ड के नैतिकतावाद की कठोर आलोचना की। एलियट ने स्वच्छंदतावादी दृष्टि का विरोध करते हुए गैर-रोमांटिक दृष्टि को अपनाया। काव्य और समीक्षा का उद्देश्य उन्होंने लोक-अभिरुचि को सुधारना, परिष्कृत करना माना है। एलियट मानते हैं कि प्रत्येक शब्द की, प्रत्येक पद्धति (Race) की अपनी सर्जनात्मकता ही नहीं, आलोचनात्मक मनोवृत्ति भी हुआ करती है। स्थूल रूप से दो उद्देश्य हैं - कलाकृतियों का विशदन (Elucidation of Works of Arts); और रुचि का परिष्कार (Correction of Taste)। फिर सार-संक्षेप में कहा - सृजन के दो उद्देश्य हैं (1) साहित्य का बोध और आस्वाद (The understanding and enjoyment of Literature)।

3.3.7 मार्क्सवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन

मार्क्सवाद साहित्य को समाज-परिवर्तन के अस्त्र के रूप में मानता है। साहित्य से जन-जागरण, लोक-जागरण का प्रकाश फैलता है। पूँजीवादी-साहित्य और सामंतवादी-साहित्य का विश्लेषण करते हुए मार्क्सवाद उसका विरोध करता है। मार्क्स ने जिस मूल्य-सिद्धांत की बात की थी, मार्क्सवादी उसके आधार पर साहित्य की विचारधारा, शिल्प और मूल्य-चेतना पर विचार करते हैं। अधिकांश मार्क्सवादी विद्वान ऐतिहासिक एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांतों से साहत्य का अध्ययन करते हैं और मानते हैं कि सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों में आर्थिक-व्यवस्था, वर्ग-संघर्ष का विशेष हाथ होता है। साहित्यिक-आंदोलन हों या साहित्य रूप अथवा सृजन की साहित्यिक पृष्ठभूमि का अध्ययन हो - हम

इन्हें आर्थिक-सामाजिक प्रवृत्तियों के आधार पर ही समझ सकते हैं। इसी तर्क को मानने के कारण मार्क्सवाद ने 'कला कला के लिए सिद्धांत' के व्यक्तिवाद-भाववाद का खण्डन किया है। इसके अनुसार साहित्य का उद्देश्य है - मानव को प्रबुद्ध सामाजिकता की दृष्टि से सम्पन्न करना, शोषण-अन्याय-अनीति और अनैतिकता के प्रति जागरूकता पैदा करना। 'साहित्य मनुष्य के संपूर्ण जीवन से सम्बद्ध है। आर्थिक जीवन के अलावा मनुष्य एक प्राणी के रूप में भी अपना जीवन बिताता है। साहित्य में उसकी बहुत-सी आदिम भावनाएँ प्रतिफलित होती हैं जो उसे प्राणिमात्र से जोड़ती हैं। इस बात को बार-बार कहने में कोई हानि नहीं कि साहित्य विचारधारा मात्र नहीं है। उसमें मनुष्य का इन्द्रिय-बोध, उसकी भावनाएँ, आंतरिक प्रेरणाएँ भी व्यंजित होती हैं। साहित्य का पक्ष अपेक्षाकृत स्थायी होता है।' (रामविलास शर्मा - परम्परा का मूल्यांकन, पृ.11) साहित्य का ध्येय कृति की मूल्य-व्यवस्था पर ध्यान देना है। आनंदवादी-रीतिवादी मूल्य मानव को विकृत करते हैं और संघर्षपरक, समाज-सापेक्ष्य, लोकमंगलकारी मूल्य मानव-समाज को आगे बढ़ाते हैं। साहित्यिक उद्देश्य जीवन-यथार्थ का, जीवन-सौंदर्य का वास्तविक उद्घाटन है। **कडवेल से लेकर जार्ज लूकाच तक सभी मार्क्सवादी चिंतक साहित्य का उद्देश्य मानव-कल्याण भावना की अभिव्यक्ति मानते रहे हैं।** रचना के मूल्य और मूल्यांकन में ही रचना-प्रयोजन निहित रहता है। मार्क्सवाद कलावादी-मूल्यों से ज्यादा महत्व मानववादी-मानवतावादी, नैतिक उपयोगितावादी या सामाजिक मूल्यों को देता है। अतः मानता है - साहित्य, जनता के लिए हो। **साहित्य का प्रयोजन मानव-कल्याण है।**

3.3.8 मनोविश्लेषणवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन

अरस्तू के विरेचन सिद्धांत या भाव-परिष्कार सिद्धांत का एक नया पाठ मनोविश्लेषणशास्त्र के अंतर्गत उठाया गया है। मनोविश्लेषण-शास्त्री फ्रायड की यह स्थापना है कि अवचेतन और चेतन मन में दमित काम-वासना से अनेक रोग-व्याधियाँ, मानसिक विक्षेप, उपद्रव उठ खड़े होते हैं जिनका शमन या प्रतिकार उपभोग, उदात्तीकरण अथवा रेचन द्वारा हो सकता है। काव्य, काम-वासना के रेचन अथवा उदात्तीकरण का माध्यम है। काव्य का प्रयोजन है - **मानव की भावनाओं का उन्नयन-परिष्करण और उदात्तीकरण करना।** मन की भीतरी विकृतियों से मुक्ति दिलाकर चित्त का शमन। सौंदर्यपरक काव्य और उद्दाम शृंगारपरक काव्य-नाटक-उपन्यास के अध्ययन-प्रेक्षण से मानव की काम-भावना परिष्कृत होती है एवं उसका वेग भी थम जाता है।

मनोविश्लेषणशास्त्री एडलर ने साहित्य को 'ग्रंथियों' से मुक्ति दिलाने का माध्यम माना है। पश्चिम के प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी कार्ल युंग ने कविता और पुरावृत्त अर्थात् मिथक को समकक्ष माना है। जैसे स्वप्न और मिथक में आदिम काल से संचित मानव के सामूहिक अवचेतन मन (क्लेक्टिव सब-कॉन्शस) और आदिम-बिम्ब (आर्किटाइपल इमेजिज़) का प्रकाशन होता है वैसे ही कविता में भी हमारे आदिम पुरखे बोल रहे होते हैं। पुरावृत्त और कविता, दोनों में अप्रतिहत वेग से प्रवाहित होने वाली जीवनी-शक्ति निबद्ध होकर अपना संयमित और नियंत्रित रूप प्रस्तुत करती है। उनके अभाव में मानसिक जीवन का वह तीव्र प्रवाह या तो अवरुद्ध हो जाएगा अथवा अपने अतिशय वेग से मानसिक जीवन में रोग-अराजकता उत्पन्न कर देगा। काव्य और कला का कार्य है - भावों-विचारों का रेचन या परिष्कार करना।

पश्चिम में समय-समय पर काव्य और कला, सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, राजनीतिशास्त्र के भीतर से वैचारिक आंदोलन उठते रहे हैं। काव्य और ललित कलाओं से संबंधित अनेक विचारधाराओं, आंदोलनों प्रवृत्तियों को उद्देश्य की दृष्टि से स्थूल रूप में दो वर्गों में ही रखा जा सकता है -

1. **आनंदवादी मूल्यों की महत्व-प्रतिष्ठा वाले विचार-समूह।**
2. **कल्याणकारी मूल्यों की महत्व-प्रतिष्ठा वाले विचार-समूह।**

इन दोनों के भीतर सृजन का प्रयोजन या अर्थ है - मानव-चेतना का विस्तार और विकास। सृजन एक मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया है रचनाकार-कलाकार इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है - भावों-विचारों को सम्प्रेषित करता है। जीवन की जटिलता को अनुभूति की आँच में सहजता से पकाकर पाठक को परोस देना भी साहित्य का एक प्रयोजन कहा जा सकता है। इस प्रकार काव्य या कला का प्रयोजन है भावों-विचारों का सम्प्रेषण तथा सांस्कृतिक-चेतना का विस्तार और परिष्कार।

3.4 हिंदी के रचनाकारों-आलोचकों के काव्य प्रयोजन से संबंधित विचार

3.4.1 आदिकाल और मध्यकाल के कवियों की काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टि

हिंदी के भक्ति-काव्य का संदेश-उद्देश्य एक ही है - **'मानुष प्रेम भयउ बैकुंठी' प्रेम ही जीवन को उदात्त बनाता है, बैर नहीं।** प्रेम से ही मनुष्य वैकुंठी या दिव्य बन सकता है। पूरा भक्तिकाव्य इसी भावना की अभिव्यक्ति है।

भक्ति-काव्य और भक्तिशास्त्र पर आधारित भक्ति-रस का एक ही मंत्र है - 'प्रेमा पुमर्थो महान।' इस भाव को कृष्ण-भक्तों, सूफ़ी-कवियों ने पुरुषार्थ का रूप दिया। तांत्रिक-धार्मिक साधनाओं को निचोड़कर कवियों ने 'भक्त' और भक्ति-दर्शन की प्रतिष्ठा कर डाली। निर्गुण धारा के कबीर ने सामाजिक-धार्मिक विकृतियों से टकराकर लोक-जागरण की राह दिखाई तो जायसी ने 'पदमावत' में सत्ता-शक्ति के घमंड को चूर कर दिया। 'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने साहित्य-प्रयोजन पर कहा है - 'कीरति भनितिभूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कह हित होई।' अर्थात् कीर्ति-प्रीति-भनिति का एक ही उद्देश्य है - **लोकमंगल की भावना।** अतः लोकमंगल की भावना को ही भक्ति-काव्य और रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी के 'भक्ति रसामृत सिंधु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' के भक्तिशास्त्र का प्रधान प्रयोजन माना जा सकता है।

हिंदी के रीतिकाव्य और रीतिशास्त्र में दरबारी काव्य के मूल्यों का पोषण हुआ। 'सरस राग-रति-रंग' में पूरी तरह निमग्न हो जाना सामंतों की नियति बन गया। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त - तीनों धाराओं के कवि शृंगारिकता, रसिकता और झूठी शास्त्रीयता का पल्ला पकड़े रहे। 'राधिका कान्ह सुमिरन को बहाने' इस कविता का प्रधान उद्देश्य (प्रयोजन) बन गया - भोग, केलि-क्रीड़ा-विलासपूर्ण मनोरंजन। साध्य हो गए -

तजि तीरथ हरि-राधिका तन दुति कर अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग पग-पग होतु प्रयाग॥

बिहारी के इस दोहे में कि 'राधा के शरीर से अनुराग करो' पूरे रीतिकाल का का जीवन-दर्शन समाहित है। इस काल में शृंगार-रस को रसराज़ का रूप तो मिला है। मूलतः यह कलाकाल है। इस काल के ज्यादातर कवि बिहारी-देव-मतिराम-घनानंद आदि रसवाद के पोषक हैं। ये सभी कवि प्रेमी नहीं, रसिक ही हैं।

3.4.2 आधुनिककाल के रचनाकारों-आलोचकों की काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टि

आधुनिककाल में आकर मनुष्य सारे चिंतन का केंद्र हो गया और ईश्वर की धारणा व्यक्तिगत आस्था तक सीमित हो गई। मनुष्य की इस बुनियादी अवधारणा में परिवर्तन 'नवजागरण' या 'पुनर्जागरण' की मानसिकता से आया। यह काल हिंदू-मानसिकता का 'पुनरुत्थानकाल' नहीं है - सांस्कृतिक नवजागरणकाल है। सांस्कृतिक नवजागरण की यह प्रक्रिया दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट और संघर्ष से उत्पन्न हुई। भारत में अंग्रेज़ी-राज्य का विरोध करते हुए भारतेंदु बाबू ने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रतिज्ञा-पत्र 'कविवचन सुधा' में छापा। डॉ.रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा' में लिखा है - 'यह प्रतिज्ञा-पत्र भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है।' (पृ.3) बंगाल में आरंभ हुई नवजागरण की चेतना हिंदी प्रदेशों में पहुँचकर राष्ट्रीय सांस्कृतिक रूप धारण कर लेती है। भारतेंदु बाबू तथा इस युग के सभी लेखक गद्य-पद्य में विदेशी साम्राज्यवादी लूटतंत्र का विरोध करते हैं। इस युग के नाटक तो इस विरोध का सर्वाधिक समर्थ माध्यम कहे जा सकते हैं। इस पूरे युग की प्रतिनिधि सृजन-ध्वनि है - साम्राज्यवादी शोषण का विरोध, आपसी गृह-कलह की समाप्ति, सामाजिक धार्मिक सुधार चेतना। 1857 की जन-क्रान्ति के विफल हो जाने का दर्द तथा लोकजागरण की चेतना। हिंदी प्रदेशों में नवजागरण का प्रकाश 1857 के स्वाधीनता संग्राम से फैलना शुरू होता है। यह स्वाधीनता-संग्राम हमारा जातीय-संग्राम है जिसने जनता को जाग्रत किया। किसानों के लड़कों ने ही फौजी वर्दी में अंग्रेज़ों से लोहा लिया। अतः यह नवजागरण की चेतना अंग्रेज़ों की देन नहीं है, हमारी ही चिंतन-परम्परा की ऊर्जा का उग्र विस्फोट है - 'सरबस लिए जात अंगरेज' या 'धन विदेश चलि जात' या 'भारतवासी रोए' की आंतरिक राष्ट्र-ध्वनि है। अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी लूटतंत्र के प्रति विरोध, विक्षोभ, विद्रोह और बगावत को व्यक्त करना ही इस काव्य की प्रमुख टोन है या प्रधान उद्देश्य।

द्विवेदी-युग के सृजन-कर्म ने पुराने दरबारी काव्य की रूढ़ियों से हिंदी कविता को मुक्त करने के लिए 'रीतिवाद विरोधी अभियान' चलाया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका से रीतिवाद-

विरोधी आंदोलन को तेज़ किया और 1901 की 'सरस्वती' में 'नायिका-भेद' शीर्षक अपने लेख में कहा - 'राजाश्रय मिलने की देरी, राजाजी को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनंद चखाने के लिए कविजी को देरी नहीं। दस वर्ष की अज्ञात यौवना से लेकर पचास वर्ष की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बताकर और उसके हाव-भाव, विलासादि की सारी दिनचर्या वर्णन करके ही कविजन संतोष नहीं करते थे। समस्या-पूर्ति करने वाले कवि-समाजों का तो जीवन-सर्वस्व ही था - नायिका-भेद।'

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य की महत्ता' को लोकजागरण की चेतना से सम्बद्ध मानते हुए माना है कि 'साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम्ब के गोलों में भी नहीं पायी जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उद्घाटन साहित्य ने ही किया है, जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोए हैं....पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पदाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने।' इस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी साहित्य को लोक-जागरण का सर्वाधिक समर्थ माध्यम मानते हैं। द्विवेदी जी की प्रेरणा से **मैथिलीशरण गुप्त** ने रीतिवाद-विरोधी अभियान में हिस्सा लिया और जगन्नाथ प्रसाद भानु की पुस्तक 'काव्य-प्रभाकर' के मई, 1912 अंक में आलोचना की। गुप्तजी रीतिवाद की निन्दा करते हुए कविता का आधार लोकानुभूति और सर्वसाधारण से जोड़ते हैं। उनकी 'भारत-भारती' का राष्ट्रीय जागरण में अमर स्थान है। गुप्तजी ने काव्य प्रयोजन को लेकर जगह-जगह कहा है -

1. **केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।**
   उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

2. **है जिस कविता का काम लोकहित करना**
   सद्भावों से मन मनुज मात्र का भरना
   पहले तो कांतासदृश हृदय का हरना
   फिर प्रकटित करना विमल ज्ञान का झरना

3. **अर्पित हो मेरा मनुजकाय। बहुजन हिताय, बहुजन हिताय।**

4. **संदेश नहीं मैं स्वर्गलोक का लाया**
   इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

पूरी की पूरी द्विवेदी-युगीन कविता में साहित्य का उद्देश्य है - लोकमंगल-भावना।

हिंदी आलोचना-शास्त्र में रीतिवाद-विरोधी अभियान को **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने दृढ़ आधार दिया। वे संस्कृत के आनंदवादी आचार्यों का 'रस-मीमांसा' में साथ न दे सके। **रस की लोकमंगलवादी व्याख्या** करते हुए उन्होंने ऐतिहासिक कार्य किया। भरत और मैथ्यू आर्नल्ड के साथ आई.ए.रिचर्डस की ओर झुकते हुए उन्होंने कलावाद-रूपवाद का खंडन किया। काव्य में विरुद्धों के सामंजस्य-सिद्धांत का समर्थन किया और काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टिकोण को स्पष्टतः से प्रस्तुत करने के लिए निबंध लिखा - 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था'। लोकमंगल की साधनावस्था के प्रतिमान हैं - तुलसीदास और उनका 'रामचरितमानस' तथा सिद्धावस्था या आनंद-क्रीड़ा के कवि हैं - विद्यापति, बिहारीलाल।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य-सहचर' में साहित्य का प्रयोजन 'लोक-चिंता' को घोषित किया। उनके प्रिय कवि हैं - कबीर। कबीर की चिंतन-परम्परा ही अशिक्षित जनता की व्यथा-कथा को व्यक्त करती है। आ.द्विवेदी मानते हैं कि रचनाकार लोक-चिंताओं से जुड़कर ही लोक को दिशा-दृष्टि देता है।

हिंदी काव्यशास्त्र में पूर्वी और पश्चिमी काव्यशास्त्र पर **डॉ. नगेन्द्र** ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। वे रसवादी आचार्य हैं और उनके चिंतन का उत्तमांश है - 'रस-सिद्धांत'। डॉ.नगेन्द्र साहित्य का प्रयोजन 'आत्माभिव्यक्ति' मानते हैं - रस को काव्य-प्रतिमान।

छायावाद के कवियों ने सृजन को, भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन के नवजागरण से शक्ति लेकर मानव-मुक्ति-चेतना की ओर प्रवृत्त किया। **सुमित्रानंदन पंत** ने 'पल्लव' की भूमिका में रीतिवाद की कठोर निंदा की और मुक्त जीवन-सौंदर्य की अभिव्यक्ति को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया। **जयशंकर**

'प्रसाद' ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' के निबंधों मे रस की शैवाद्वैतवादी-आनंदवादी परम्परा का समर्थन किया और कविता को 'श्रेयमयी प्रेय ज्ञानधारा' माना है। अर्थात् आनंद और लोकमंगल, दोनों का सामंजस्य ही सृजन-धर्म है। **सूर्यकांत त्रिपाठी निराला** ने मिल्टन, माइकेल मधुसूदन दत्त, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ की नवजागरणवादी परम्परा का हिंदी में विस्तार किया। उनका पूरा सृजन और चिंतन नवजागरण के मूल्यों से अनुप्राणित है और रूढ़िवाद का विरोधी। निराला और प्रसाद की चिन्तन-राह पर ही महादेवी वर्मा आगे बढ़ी हैं। उन्होंने गद्य में उपेक्षितों को और काव्य में 'शक्ति-काव्य' को अपनाया। उनके मत से साहित्य का उद्देश्य है - मानव-करुणा का विस्तार।

हिंदी में **'प्रगतिवाद'** के आंदोलन ने रूढ़िवाद का विरोध करते हुए मार्क्सवादी समाज-चिंतन को ग्रहण किया। **प्रेमचन्द** ने कहा कि रचनाकार समाज में आगे चलने वाली मशाल होता है - रचनाकार 'स्व-भाव' से प्रगतिशील होता है। उन्होंने लिखा - 'हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है - सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का।.....व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य। परंतु साथ ही उसने मनुष्य को व्यापक आदर्श और अधिक उत्साह दिया।' प्रेमचंद ने 'साहित्य का उद्देश्य' में जनता की चेतना को जाग्रत करना, परिष्कृत करना साहित्य का उद्देश्य माना है।

हिंदी में 'प्रगतिशील' शब्द व्यापक अर्थ का वाहक है किंतु 'प्रगतिवाद' एक निश्चित तत्त्ववाद को सूचित करता है। प्रगतिशील साहित्य में विषय-वस्तु या अंतर्वस्तु को ज्यादा महत्व मिलता है - रूप को, कला-विन्यास को कम। साहित्य का उद्देश्य है - प्रतिक्रियावादी शक्तियों के लोक-विरोधी, जन-विरोधी चरित्र का भंडाफोड़ और मनुष्य की मनुष्यता का विकास-परिष्कार-प्रसार। रहस्यवादी-भाववादी रचनाकर्म का खंडन, 'कला कला के लिए' सिद्धांत का खंडन करते हुए कला में **उपयोगितावाद-यथार्थवाद** की महत्व-प्रतिष्ठा। **डॉ. रामविलास शर्मा** ने रीतिवाद-कलावाद के खंडन का कार्य 'प्रेमचन्द और उनका युग', 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना', 'परम्परा का मूल्यांकन', 'आस्था और सौंदर्य' तथा 'निराला की साहित्य-साधना' आदि सभी पुस्तकों में किया है। मूलतः डॉ.रामविलास शर्मा ने आ.रामचन्द्र शुक्ल की लोकमंगलवादी चिंतन-दृष्टि का विकास ही साहित्य का प्रयोजन माना है। शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, प्रकाश चन्द्र गुप्त का चिंतन मार्क्सवाद के विचारों का अनुवाद-मात्र है। हिंदी में गजानन माधव मुक्तिबोध ने नया चिंतन किया है। वे अज्ञेय के चिंतन में शीत-युद्ध की छाया पाते रहे। फलतः उन्होंने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' में 'लघु मानव सिद्धांत', 'क्षणवाद', 'रूपवाद-कलावाद' का विरोध किया। ग.मा.मुक्तिबोध साहित्य को जनता के लिए जनजागरण का अस्त्र मानते हैं। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' तथा 'भूरी-भूरी खाक धूल' की कविताओं में भी वे पूँजीवादी-साम्राज्यवादी चिंतन का विरोध करते हैं।

प्रयोगवादी युग, नयी कविता युग तथा समकालीन युग में अज्ञेय, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, निर्मल वर्मा, लक्ष्मीकांत वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि साहित्य-चिंतकों की एक पूरी पीढ़ी है जो 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य', 'लघुमानव सिद्धांत' में विश्वास करती है। लेकिन इस पीढ़ी को कलावादी-रूपवादी-भाववादी-प्रतिक्रियावादी, शीत-युद्ध के मूल्यों के प्रचार की पीढ़ी कहना एकदम गलत और भ्रामक है। इनमें से कोई भी न तो शुद्ध फ्रायडवादी है, न अस्तित्ववादी है - ज्यादातर प्रजातंत्रवादी-समाजवादी चिंतन के लोग हैं जो 'कला कला के लिए' को साहित्य का प्रयोजन नहीं मानते हैं। इन सभी के मत से साहित्य का प्रयोजन है - मानव-व्यक्तित्व का समग्र विकास, मानव-स्वाधीनता की रक्षा, मुक्त-चिंतन का विकास। यह चिंतन अधिनायकवादी-उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी-फासिस्टवादी-मार्क्सवादी चिंतन का विरोध करता है। हाँ, सृजन में व्यक्तिवाद का विरोधी होकर भी आधुनिकतावादी चिंतन का समर्थन करता है। विजयदेवनारायण साही ने 'साहित्य किसके लिए' पुस्तक के निबंधों में अनेक प्रकार से यह कहा है कि रचनाकार किसी विचारधारा का भोंपू नहीं होता है - रचनाकार का मानवतावाद रचना की अर्थ-व्यंजना में निहित रहता है। अपनी पुस्तक 'जायसी' में उन्होंने कहा है कि 'पद्मावत' में जायसी का उद्देश्य सूफी सिद्धांतों का प्रसार न था - वे त्रासदी के माध्यम से मानव-सत्य का साक्षात्कार कराना चाहते थे। हिंदी जाति का विकास और इतिहास साक्षी है कि वह हर देशी-विदेशी को अपने में विलीन करते हुए एक नया रूप दे देता है। इसलिए हिंदी चिंतन परम्परा में लोकमंगलवादी मानव-सत्यों से साक्षात्कारवादी दृष्टि ही साहित्य का प्रयोजन रही है।

3.5 मूल्यांकन

भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-प्रयोजन दृष्टि के पीछे सांस्कृतिक-सामाजिक चिंतन परम्पराओं का हाथ रहा है। भारतीय चिंतन का मूल रस-ध्वनि-वक्रोक्ति पर केंद्रित रहा है। हज़ारों वर्षों तक आचार्यगण रस-

ध्वनि-वक्रोक्ति पर वाद-विवाद करते रहे और आनंदवादी तथा कल्याणवादी विचारधाराओं में टकराहट बनी रही। इस टकराहट का कारण हमारा दर्शन, व्याकरण का चिंतन रहा, जो अभिन्नता में विश्वास करता है। द्वैत में अद्वैत, व्यष्टि में समष्टि, नर में नारायण, भिन्नता में अभिन्नता का अर्थ है - विरुद्धों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति। यह शक्ति ही भारतीय सभ्यता-संस्कृति में रही है 'विरुद्धों का सामंजस्य'। दरअसल, हिंदुस्तान की संस्कृति का आधारभूत तत्व यही है - 'सुरसरि सम सबका हित होई' गंगा की तरह सभी को अपने में मिलाना और गंगा बना देना। इसलिए लोक-कल्याण और आनंद दो नाम अवश्य हैं, परंतु तत्त्वतः दोनों एक ही हैं, दोनों प्रयोजनों का मूल प्रयोजन है - लोक के साथ जीना, लोक-चिंता के साथ जीना। अपने हृदय को लोक के हृदय में मिलाना देना ही 'रस-दशा' है। रस-दशा का अर्थ है - हृदय की मुक्तावस्था, भावयोग दशा, साधारणीकरण - या समष्टि-भावना का आनंद। हिंदी काव्यशास्त्र के चिंतन का काव्य प्रयोजन संबंधी मूलाधार इसी हिंदुस्तानी लय से ओत-प्रोत है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि काव्य कला का प्रयोजन है - लोकमंगल भावना। लोकमंगल भावना का अर्थ है - मनुष्यता का विकास, उस मानवीयता का विकास जिसमें मानव के प्रति गहरे सामाजिक सरोकार हों, उसमें सौंदर्यानुभूति का विकास हो। इसे ही 'भावों का विरेचन', 'भाव परिष्कार', 'भाव-उन्नयन', 'सांस्कृतिक चेतना का विकास' आदि अनेक नाम दिए गए हैं। रचनाकार ही मानवता के प्रति करुणा और सहानुभूति की चेतना का विस्तार करता है। इसी में आनंद के साथ लोकमंगल की सिद्धि का भाव निहित है। अपने-पराए की भेद-बुद्धि से मुक्त होकर रचनाकर्म का मानवतावाद विश्व-दृष्टि का प्रसार करता है। लोकजागरण और लोक-कल्याण ही जीवन के सत्य, शिव और सुंदर की समग्र अभिव्यक्ति है और यही साहित्य का प्रयोजन है।

3.6 शब्दावली

संस्कार	-	शिक्षा आदि द्वारा ठीक करना, शुद्ध करना, साफ करना, सजाना।
चिन्मय	-	शुद्ध ज्ञान
सुमनस/प्रमाता	-	भारतीय काव्यशास्त्र में सुमनस, सहृदय, प्रमाता आदि शब्द काव्य के गुणग्राही पाठक या नाटक के दर्शक के लिए प्रयुक्त हुए हैं।
कंचुक	-	वस्त्र
प्रत्यभिज्ञान	-	अपने स्वरूप की पहचान
लोकमंगल	-	लोक का हित, सभी का कल्याण
मिथक	-	देवकथा, पुराकथा, पुरावृत्त

3.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. संस्कृत आचार्यों के काव्य प्रयोजन संबंधी मतों का निरूपण कीजिए।
2. पाश्चात्य चिंतन परंपरा के काव्य प्रयोजन संबंधी मतों पर विचार कीजिए।
3. आचार्य मम्मट द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन पर संक्षेप में विचार कीजिए।
4. हिंदी के आधुनिक विद्वानों की काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टि पर प्रकाश डालिए।
5. टिप्पणियाँ लिखिए :
   (क) मार्क्सवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन।
   (ख) मनोविश्लेषणवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन।

इकाई 4 शब्द-शक्ति विवेचन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 'व्यापार' का अर्थ
4.3 अभिधा शब्द-शक्ति
4.4 लक्षणा शब्द-शक्ति
  4.4.1 रूढ़ा लक्षणा
  4.4.2 प्रयोजनवती लक्षणा
4.5 व्यंजना शब्द-शक्ति
  4.5.1 व्यंजना शब्द-शक्ति के भेद
  4.5.2 शाब्दी व्यंजना
  4.5.3 आर्थी व्यंजना
4.6 तात्पर्या-वृत्ति
4.7 मूल्यांकन
4.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- शब्द-शक्ति से तात्पर्य बता सकेंगे;
- अभिधा, लक्षणा, व्यंजना शब्द-शक्तियों का उल्लेख कर सकेंगे; और
- शब्द-शक्तियों के महत्व की चर्चा कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र में शब्द-शक्तियों के विवेचन की एक सुदीर्घ और सुचिंतित परंपरा रही है। आचार्यों ने शब्द और अर्थ-चिंतन की परंपरा में दार्शनिकों के चिंतन के साथ-साथ व्याकरण के आचार्य-चिंतन को प्रसंगानुसार ग्रहण किया है। नतीजा यह हुआ है कि शब्द की अनेक अर्थच्छायाओं का इतना सूक्ष्म और गहन विवेचन हुआ है कि आज का बौद्धिक या आधुनिक पाठक आश्चर्यचकित रह जाता है कि अर्थ-मीमांसा में हमारा बुद्धिवाद कितना विकसित था। भारतीय शब्द-शक्तियों के ढंग का क्रमबद्ध चिंतन पश्चिम में नहीं हुआ है। हाँ, वहाँ शब्द और अर्थ के विवेचन की एक झाँकी प्लेटो-अरस्तू, लांजाइनस तथा होरेस में मिलती है। भाषण कला और वक्तृत्व-कला के अंतर्गत भी वहाँ इस विषय पर चर्चा हुई है। किंतु सच्चे अर्थों में इस चर्चा का वैज्ञानिक आरंभ आई.ए.रिचर्ड्स तथा आग्डेन की पुस्तक **'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग'** से होता है। रिचर्ड्स तो अपनी पुस्तकों - 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' तथा 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' - में अर्थ-मीमांसा पर बराबर चर्चा करते रहे हैं। टी.एस.एलियट तथा नयी समीक्षा, शैली-विज्ञान, संरचनावाद आदि से लेकर विनिर्मितिवाद (डि-कंस्ट्रशन थ्योरी) के प्रवर्तक देरिदा तक यह चिंतन गतिशील रहा है। हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' के निबंधों तथा टिप्पणियों में शब्द-शक्तियों की चर्चा की है। आज के रचनाकार और पाठक दोनों के साहित्यिक-सांस्कृतिक समझ के लिए शब्द-शक्ति चर्चा आवश्यक है। इस दृष्टि से शब्द-शक्तियों का विवेचन बहुत ही प्रासंगिक विषय है, क्योंकि आज शब्द और अर्थ पर अनेक कोणों से विचार किया जा रहा है।

4.2 'व्यापार' का अर्थ

शब्द की 'शक्ति' अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार है। शब्द का 'कारण' जिसके द्वारा कार्य का सम्पादन होता है उसे 'व्यापार' कहा जाता है। जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए मिट्टी, चाक, दण्ड तथा कुम्हार आदि कारण हैं और चाक का घूमना वह व्यापार है जिससे घड़ा बनता है, उसी तरह अर्थ-बोध कराने में शब्द कारण है तथा अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार अभिधा-लक्षणा-व्यंजना तथा तात्पर्यवृत्ति आदि हैं। भारतीय आचार्यों ने इन्हीं को 'शक्ति' या 'वृत्ति' नाम दिया है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे 'शक्ति' नाम दिया है तो मम्मट ने 'वृत्ति'।

भारतीय आचार्यों ने अर्थ के तीन प्रमुख भेद किए हैं - वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। एक चौथे प्रकार के अर्थ-तात्पर्य-वृत्ति या तात्पर्यार्थ को भी कुछ आचार्यों ने स्वीकृति दी है किंतु इसके संबंध में मतभेद रहा है। वाच्यार्थ की उपलब्धि अभिधा-व्यापार से होती है। अर्थात् साक्षात् संकेत दिए गए अर्थ का जो शब्द अभिधा-व्यापार द्वारा बोध कराता है - वाचक कहलाता है। वाचक शब्दों से प्राप्त अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। लक्ष्यार्थ में लक्षणा शब्द-शक्ति और व्यंग्यार्थ में व्यंजना-शक्ति सक्रिय रहती हैं। यहाँ हम अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्य-वृत्ति का निरूपण कर रहे हैं।

4.3 अभिधा शब्द-शक्ति

प्रसिद्ध अर्थ अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार (मूल कारण) को अभिधा शब्द-शक्ति कहते हैं। पाठक अथवा श्रोता को अभिधा से जो अर्थ मिलता है उसे मुख्यार्थ कहते हैं क्योंकि सामान्य मानव-जीवन भाषा के अभिधा-व्यापार से ही चलता है। अभिधा-व्यापार की लोक-व्यापकता को देखते हुए कुछ आचार्यों ने अभिधा को लक्षणा-व्यंजना की तुलना में ज्यादा महत्व दिया है - 'अभिधा उत्तम काव्य है - मध्य लक्षणा क्षीण / अधम व्यंजना रस कुटिल उलटी कहत प्रवीन' जैसे कथन इसी चिंतन परंपरा की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। हम इस कथन से पूरी तरह सहमत न भी हों तो भी यह तो स्पष्ट है कि इसमें अर्थ की स्पष्टता, निश्चितता और भाषा की स्वच्छता का गुण है। पश्चिम में भी 'क्लैरिटी', 'पर्सपिक्युटी' को गद्य और पद्य, दोनों में महत्व दिया गया है। कारण, मुख्यार्थ के बिना लक्षणा-व्यंजना का कार्य हो ही नहीं सकता है। अभिधा में लक्षणा-व्यंजना से ज्यादा लोक-विस्तार है।

वाचक शब्द उन शब्दों को कहते हैं जो मुख्यार्थ अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराते हैं। वाचक को संकेतित शब्द भी कहते हैं। अभिधा-शक्ति द्वारा ज्ञात अर्थ 'वाच्यार्थ' कहलाता है। वाच्यार्थ के अन्य नाम हैं - प्रसिद्धार्थ, मुख्यार्थ, साक्षात-संकेतित। साक्षात-संकेतित का अर्थ - शब्द के गुण, जाति, द्रव्य तथा क्रिया से निर्धारित होता है। अभिधा-शक्ति के द्वारा तीन प्रकार के शब्दों का बोध हो जाता है - रूढ़, यौगिक, योगरूढ़। रूढ़ शब्द वे शब्द कहलाते हैं जिनका अर्थ-बोध लोक-प्रचलन की समुदाय-शक्ति द्वारा होता है। इनकी व्युत्पत्ति नहीं होती जैसे घोड़ा, गढ़ आदि। यौगिक शब्द उन शब्दों को कहते हैं जिनका अर्थ-बोध (प्रकृति और प्रत्यय) की शक्ति द्वारा होता है जैसे सुधांशु, दिनकर, दिवाकर आदि। योगरूढ़ शब्द उन शब्दों को कहते हैं जिनका अर्थ-बोध अवयवों की शक्ति के सहयोग से होता है। ये शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ़ होते हैं, जैसे 'जलज' का यौगिक अर्थ है जल से उत्पन्न, पर योगरूढ़ अर्थ है - कमल।

वस्तुतः अभिधा-व्यापार द्वारा वाचक शब्दों से अर्थ का स्पष्ट या प्रत्यक्ष संकेत मिलता है जैसे 'गो' शब्द कहने से एकदम एक विशिष्ट प्रकार के पशु का बोध होता है। "पद और तद्विषयक पदार्थ में निश्चित संबंध होता है। अतः एक विशेष शब्द से एक विशेष पदार्थ का ही ज्ञान होना अनिवार्य है। बचपन से ही हम शब्द और पदार्थ के इस निश्चित संबंध को जानने लगते हैं और जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता है वैसे-वैसे हमारा संबंध ज्ञान अधिकाधिक समृद्ध होता जाता है। संकेत-ग्रह के बारे में दार्शनिकों, वैयाकरणों, आलंकारिकों आदि में पर्याप्त मतभेद मिलता है। जब हम 'घर' अथवा 'गो' शब्द कहते हैं तब हमारा संकेत जाति से है अथवा व्यक्ति से, इस प्रश्न को लेकर दीर्घकाल तक विवाद चलता रहा। यदि कोई कहे कि गाय सड़क पर जा रही है तो उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि गाय जाति के सभी प्राणी सड़क पर चल रहे हैं। उसका प्रयोजन केवल एक विशेष गाय से है। किंतु, यद्यपि संकेत किसी गाय-विशेष की ओर है तथापि गाय शब्द के उच्चारण-मात्र से जाति ध्यान में आती है। फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संकेत 'जाति' और 'व्यक्ति' दोनों का है।" (साहित्य-सिद्धांत, पृ.51) सार संक्षेप यह कि चार अर्थों में संकेत ग्रहण होता है - जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा। शक्ति-ग्रह के आठ साधन माने गए हैं - व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यारोप, विवृत्ति तथा सिद्धपद सान्निध्य। बौद्ध दार्शनिकों का विचार है कि संकेत-ग्रह 'अपोह' में होता है। अर्थात् अपोह रूप अर्थ में ही शब्द का संकेत है - 'गो' शब्द कहने से सभी पदार्थों का निराकरण हो जाता है केवल 'गो' शब्द से 'गो' अर्थ का बोध होता है। बौद्ध लोग जाति अथवा व्यक्ति में संकेत ग्रह नहीं मानते हैं। पश्चिम में रिचर्ड्स तथा आग्डेन ने 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' में शब्द को प्रतीक या चिह्न या संकेत मात्र मानकर प्रमुख रूप से शब्द के मुख्यार्थ या प्रसिद्धार्थ का ही विवेचन किया है क्योंकि शब्द का अभिधेय अर्थ ही लोक-व्यवहार में सर्वाधिक अर्थ-व्याप्ति रखता है।

4.4 लक्षणा शब्द-शक्ति

साहित्य में लक्षणा शब्द-शक्ति वहाँ होती है जहाँ लक्षक या लाक्षणिक शब्द का प्रयोग हो। मम्मट के अनुसार -

मुख्यार्थबाधे तद्योगेरूढ़ितोऽथ प्रयोजनात।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत सा लक्षणा रोपिता क्रिया।। **(काव्य-प्रकाश 2:1)**

अर्थात् मुख्य अर्थ के बाधित होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति (क्रिया) के द्वारा मुख्य अर्थ से संबंध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा-व्यापार शक्ति कहते हैं। इस भाँति लक्षणा के लिए तीन बातें आवश्यक हैं - (1) मुख्यार्थ में बाधा, (2) मुख्यार्थ का अमुख्यार्थ (लक्ष्यार्थ) के साथ योग या आवश्यक संबंध; और (3) रूढ़ि अथवा प्रयोजन का कारण रूप में विद्यमान होना। यहाँ लक्षणा मूलतः अर्थ का व्यापार है - शब्द में वह आरोपित है। रूढ़ि अथवा प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो प्रमुख भेद हैं - रूढ़ा और प्रयोजनवती लक्षणा। इन दोनों के क्रमशः उदाहरण हैं - (क) कर्मणि कुशलः (ख) गंगायां घोषः।

4.4.1 रूढ़ा लक्षणा

कुशल शब्द का अर्थ होता है - कुश (घास) को उखाड़कर लाने में चतुर। इस कार्य के लिए चतुरता जरूरी है, अपने हाथ को क्षति-ग्रस्त किए बिना कुश को उखाड़ना या उखाड़ने की कला-विधि में चतुर। जब हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति कार्य-कुशल है तो हमारा अभिप्राय होता है कि वह कार्य करने में कुशल या दक्ष या प्रवीण है। व्यवहार में यही अर्थ प्रचलित हो गया। किंतु, मुख्यार्थ से सम्बद्ध होने पर भी वह उससे भिन्न है। रूढ़ा लक्षणा का अर्थ है - जहाँ मुख्यार्थ से सम्बद्ध होने पर भी वह उससे भिन्न है। जहाँ मुख्यार्थ रूढ़ि के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए वहाँ रूढ़ा लक्षणा मानी जाती है। किसी भी भाषा के सभी मुहावरे और लोकोक्तियाँ रूढ़ा लक्षणा के अंतर्गत आ जाते हैं जैसे 'आँख का तारा' होना, 'आँख का काँटा' होना आदि।

4.4.2 प्रयोजनवती लक्षणा

जहाँ मुख्यार्थ किसी प्रयोजन के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा मानी जाती है। 'गंगायां घोषः' का अभिधा में अर्थ होगा - गंगा में अहीरों की बस्ती है। कहने वाले का प्रयोजन है कि गंगा तट पर जहाँ अहीरों की बस्ती है वहाँ वही शीतलता और पावनता है जो गंगा की धारा में है। यहाँ 'प्रयोजन' व्यंजना का विषय है। इसी कारण, प्रयोजनवती लक्षणा को 'व्यंजनाश्रित' स्वीकार किया गया है और उसे नया नाम दिया गया है - 'सव्यंग्या लक्षणा'। आचार्यों ने इस प्रश्न पर बहुत विवाद किया है कि लक्षण 'पद' में होता है अथवा 'वाक्य' में। अधिकांश आचार्य उसे पद का ही व्यापार मानते हैं किंतु विश्वनाथ ने लक्षणा को पद के अतिरिक्त वाक्य की शक्ति के रूप में भी माना है।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के अस्सी भेद माने हैं - रूढ़ा के सोलह और प्रयोजनवती के चौंसठ भेद। मम्मट ने लक्षणा के तेरह भेद और उपभेद माने। प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद हैं - गौड़ी लक्षणा और शुद्धा लक्षणा। इन दोनों के दो-दो उपभेद हैं - उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा। इस प्रकार ये चार हैं फिर इन चारों के दो-दो उपभेद हैं - सारोपा और साध्यवसाना। गौण कहते हैं सादृश्य संबंध को और शुद्धा कहते हैं सादृश्य से इतर संबंध को। उपादान लक्षणा में शब्द के मुख्यार्थ का त्याग नहीं होता और साथ में अन्य अर्थ का भी आक्षेप होता है। लक्षण-लक्षणा में शब्द अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने को अर्पित कर देता है। 'गंगायां घोषः' में गंगा शब्द का अर्थ 'तट' किया जाए तो लक्षण-लक्षणा होगी और 'गंगा-तट' अर्थ किया जाए तो उपादान लक्षणा। संस्कृत के आचार्यों ने लक्षणा के इतने भेद-प्रभेद किए हैं कि आज के पाठक की बुद्धि चकरा जाती है। अतः लक्षणा के भेद-प्रभेदों की यहाँ चर्चा अनावश्यक है। केवल हमें इतना ही जानना पर्याप्त है कि लक्षणा का अर्थगत महत्व है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'मेटाफर' को लक्षणा का प्रमुख रूप माना जा सकता है। सरोपा लक्षणा और रूपक अलंकार का संबंध बहुत निकट का रहा है। रूपक केवल काव्य के अलंकरण का ही साधन नहीं रहा है अपितु अर्थ की लाक्षणिक अभिव्यक्ति में उसकी भूमिका का बहुत महत्व है। सारोपा लक्षणा में विषयी और विषय दोनों का शब्द द्वारा कथन किया जाता है जैसे 'वह निरा बैल है' का अर्थ है - वह गँवार है। बैल के स्वरूप को 'वह' पर आरोपित कर दिया - सरोपा लक्षणा है।

4.5 व्यंजना शब्द-शक्ति

अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त शब्द की तीसरी शक्ति का नाम - व्यंजना है। विद्वानों ने 'व्यंजना' शब्द की व्युत्पत्ति की ओर प्रायः ध्यान दिया है - 'अंजन' शब्द में 'वि' उपसर्ग लगाने से 'व्यंजन' शब्द निर्मित होता है। अतः व्यंजन शब्द का अर्थ हुआ - 'एक विशेष प्रकार का अंजन'। 'आँख में लगा हुआ अंजन जिस प्रकार दृष्टि-दोष को दूर कर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार व्यंजना-शक्ति शब्द के मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को पीछे छोड़ती हुई उसके मूल में छिपे हुए अकथित अर्थ द्योतित करती है।' (हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, संपा.धीरेन्द्र वर्मा) अभिधा-लक्षणा अपने अर्थ का बोध कराकर जब विरत हो जाती हैं तब जिस शब्द-शक्ति के द्वारा 'व्यंग्यार्थ' ज्ञात होता है, उसे व्यंजना-शक्ति कहते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में 'व्यंग्यार्थ' के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं - ध्वन्यार्थ, आक्षेपार्थ, सूच्यार्थ, प्रतीयमानार्थ आदि। अभिधा और लक्षणा का संबंध प्रायः शब्द से होता है, किंतु व्यंजना शब्द के साथ अर्थ पर भी आधारित रहती है। अर्थात् वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ - तीनों ही नवीन अर्थ-व्यंजना का साक्षात्कार बुद्धिमान पाठकों को कराते हैं। इतना ही नहीं, एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ की और दूसरा व्यंग्यार्थ तीसरे व्यंग्यार्थ की व्यंजना करा सकता है। ज़ाहिर है कि व्यंजना शब्द-शक्ति से शब्द का सूक्ष्मतर, गहनतर अर्थ-व्यंजित अथवा ध्वनित होता है।

वैयाकरणों के 'स्फोटवाद' सिद्धांत में भी 'व्यंजना' की महिमा का संकेत है। किंतु 'व्यंजना' की संपूर्ण महिमा को संस्कृत काव्यशास्त्र का ध्वनि सिद्धांत स्थापित करता है। आचार्य आनदवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' में व्यंजना-शक्ति के निरूपण से पहले पूरा ध्यान उन तीन मतों के खण्डन पर केंद्रित किया है जो व्यंजना के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं। अभाववादी व्यंजना शक्ति को अस्वीकार करते हैं। लक्षणावादी आचार्यों का तर्क है कि व्यंजना का समाहार लक्षणा में ही हो जाता है तो अलग से मानने की आवश्यकता ही नहीं है। अभाववादी या अनुमानवादी महिम भट्ट ने 'व्यक्ति-विवेक' में व्यंजना को अस्वीकार करते हुए तर्क दिया था कि शब्द का अर्थ अनुमानाश्रित होता है - व्यंजनाश्रित नहीं। किंतु विचार-परंपरा में महिमभट्ट के मत को स्वीकृति नहीं मिली और तीसरे वर्ग के आचार्यों ने कहा कि व्यंजना का अस्तित्व है लेकिन वह 'अनिवर्चनीय' है। 'ध्वन्यालोक' में इन तीनों मतों को निराधार सिद्ध करने के बाद व्यंजना की अपार-व्याप्ति की प्रतिष्ठा का प्रतिपादन किया गया है। पादाचार्य अभिनवगुप्त की अतलदर्शी प्रतिभा ने 'ध्वन्यालोक लोचन' तथा 'अभिनव-भारती' में ध्वनि की महिमा को अनन्यता प्रदान की। पीछे से मम्मट, विश्वनाथ तथा रसगंगाधरकार ने व्यंजना अथवा ध्वनि को महत्ता के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया।

'ध्वन्यालोक' ने अपने पहले ही छंद में यह तथ्य घोषित किया कि काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है। (ध्वनिरित बुधर्यः समाम्नातपूर्वः।) भारतीय दर्शन में भी 'व्यंजना एव' अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की चर्चा भी बहुत प्राचीन है। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' में कहा 'सादृश्या लक्षणा वक्रोक्ति' अर्थात् लक्षणा में जहाँ सादृश्य गर्भित होता है वहाँ वह वक्रोक्ति होती है। सादृश्य की यह व्यंजना ध्वनि के अंतर्गत आती है। ध्वनिकार ने कहा कि काव्य में मुख्यतः वाच्यार्थ का नहीं वरन् व्यंग्यार्थ का सौंदर्य होता है। व्यंग्यार्थ की महत्ता के अनुपात से ही काव्य के तीन भेद किए गए - उत्तम काव्य अर्थात् ध्वनि काव्य, मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य काव्य और अधम काव्य अर्थात् चित्र काव्य। ध्वनि तीन प्रकार की होती है - रस-ध्वनि, अलंकार ध्वनि, वस्तु ध्वनि। इन तीनों में रस-ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। अभिनवगुप्त ने अभाववादी भट्टनायक के 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' दोनों को व्यंजना में समाविष्ट कर लिया। अर्थ का प्रस्फुटन ही स्फोट है और यह अर्थ-स्फोट शब्द और वाक्य से लेकर प्रबंध तक का होता है। इस प्रकार, ध्वनि-सिद्धांत का पूरा आधार ही व्यंजना-शक्ति पर केंद्रित हो गया। भट्टनायक और महिम भट्ट ने 'व्यंजना' को अस्वीकार किया था किंतु अभिनवगुप्त ने उन्हें अपने तर्कों से पराजित कर दिया। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'व्यंजना' का सारांश इन शब्दों में दिया है:

1. लक्षणा में जो प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका बोध लक्षणा द्वारा न होकर केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता है।
2. असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य में रस-भावादि व्यंग्य रहते हैं जो न तो अभिधा के वाच्यार्थ हैं न लक्षणा के लक्ष्यार्थ।
3. समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही होता है, परंतु व्यंग्यार्थ भिन्न हो सकते हैं।

4. प्रकरण, वक्ता, बोधक, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक होगा परंतु व्यंग्यार्थ, प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होगा।

5. वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में काल-भेद सर्वत्र रहता है अर्थात् वाच्यार्थक बोध प्रथम और व्यंग्यार्थ का बाद में होता है।

6. वाच्यार्थ केवल शब्द में ही रहता है, पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना-विशेष में रहता है।

7. वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान से ही हो सकता है, परंतु व्यंग्यार्थ विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है।

8. वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनंद का आस्वादन) उत्पन्न होता है।

4.5.1 व्यंजना शब्द-शक्ति के भेद

भारतीय आचार्यों ने इसके दो भेद माने हैं - (क) शाब्दी-व्यंजना; और (ख) आर्थी व्यंजना।

4.5.2 शाब्दी व्यंजना

शब्द पर आधारित व्यंजना **अभिधामूला** तथा **लक्षणामूला** दो प्रकार की होती है।

क) **अभिधामूला शाब्दी व्यंजना** : 'काव्य-प्रकाश' के अनुसार जब संयोग आदि के द्वारा शब्द का वाच्यार्थ नियंत्रित हो जाता है तब व्यंजना ऐसे अर्थ का द्योतन कर दिया करती है जिसे कभी वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता। अनेकार्थी शब्दों के एक अर्थ में नियंत्रित हो जाने के बाद, जिस शक्ति द्वारा उन शब्दों से दूसरा अर्थ ध्वनित होता है उसे अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। अनेकार्थी शब्दों को एक अर्थ में नियंत्रित करने के चौदह कारण बताए गए हैं - संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर। एक उदाहरण लीजए - 'मलिनि आजक है न क्यों वा रसाल को हाल' ('काव्य निर्णय', भिखारीदास) यहाँ 'रसाल' शब्द अनेकार्थी है और 'आम' तथा 'प्रिय' का अर्थ देता है। मलिन के 'साहचर्य' से उसका अर्थ आम का फल निर्धारित हुआ, पर रसाल प्रिय व्यक्ति या रसिया के लिए भी प्रयुक्त होता है - इसका व्यंग्यार्थ हुआ कि हे सखी मेरे प्रिय का समाचार क्यों नहीं देती। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ ज्ञात होने के कारण यहाँ अभिधामूला आर्थी व्यंजना है और शाब्दी इसलिए कि 'रसाल' शब्द को हटाते ही व्यंजना समाप्त हो जाती है।

ख) **लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना** : लक्षणा में शब्द का मुख्यार्थ बाधित रहता है। अतः जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए लक्षणा का सहारा लिया जाता है उस प्रयोजन की व्यंजना करने वाली शक्ति को **लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना** कहते हैं। स्पष्ट बात यह कि लक्षणा (प्रयोजनवती लक्षणा) ही व्यंजना के प्रयोजन का आधार बनती है। 'काव्य-प्रकाश' के मत से प्रयोजनवती लक्षणा के बारह भेद हैं, सब मिलाकर चौंसठ भेद हैं। ये सभी भेद लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना के उदाहरण हैं। 'गंगायां घोषः' की लक्षणा का अर्थ - 'मेरा गाँव गंगा के समीप है' व्यंग्यार्थ से ही लिया जाएगा अर्थात् गंगा के समीप गाँव में शीतलता-पवित्रता है।

4.5.3 आर्थी व्यंजना

वक्तृ, बोधत्व, काकु, वाक्य, वाच्य, सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा आदि की विलक्षणता के कारण आर्थी व्यंजना के दस भेद हैं। कुछ विद्वान आर्थी व्यंजना के केवल तीन भेद मानते हैं - वाच्य सम्भवा, लक्ष्य सम्भवा; तथा व्यंग्य सम्भवा। कारण, अर्थ के तीन भेद हैं - वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। वस्तुतः व्यंजना में अर्थ-संभावनाओं की कोई सीमा नहीं है। अतः उसके दस या तीस भेदों की बात व्यर्थ है। शास्त्रकारों ने जिन भेदों की चर्चा की है - वे तो उदाहरण-मात्र हैं। वक्तृ-विशिष्ट आर्थी व्यंजना का एक उदाहरण लीजिए -

निरखि सेज रंग रंग भरी लगी उसासैं लैन।
कछु न चैन चित्त में रह्यो चढ़त चाँदनी रैन॥ **(पद्माकर)**

होली के दिनों की चाँदनी भरी मादक रात में रंग-बिरंगी सेजों को देखकर नायिका आहें भरने लगी। उसके चित्त का चैन छिनने लगा। अर्थात् नायक की निष्ठुरता (व्यंग्यार्थ) पर उसे मलाल हुआ।

प्रतीयमान अर्थ का क्या मतलब है? इस संदर्भ में ध्वनिकार का मत है कि प्रतीयमान कुछ और ही चीज़ है जो रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि अवयवों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में (वाच्य अर्थ से अलग) भासित होता है। इस कथन से ज़ाहिर है कि व्यंजना में अर्थ की अनंतता होती है, साथ ही व्यंजना अथवा ध्वनि प्रतीयमान भाषा का स्थूल तत्व न होकर सूक्ष्मतर अमूर्त व्यापार है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति में निहित चमत्कारपूर्ण प्रभाव को अभिव्यक्त करना ही व्यंजना का ध्येय है। शब्द और अर्थ, वाक्य और प्रबंध, संपूर्ण काव्य में व्यंजना का अनंत अर्थ-सौंदर्य मिलता है। अतः लक्षणा की तुलना में व्यंजना का क्षेत्र बहुत विस्तृत और विशाल है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यंजना के भेदों-प्रभेदों पर निगाह डालने के बाद प्रो. राम अवध द्विवेदी ने कहा है - 'ध्वनि के भेदों-प्रभेदों का प्रश्न अत्यंत जटिल है। मम्मट ने 10455 भेदों का उल्लेख किया है। सच तो यह है कि व्यंजना की संभावनाएँ अनंत हैं और उसके विभिन्न रूपों की परिगणना नहीं कर सकते। जहाँ कहीं कथन में वैदग्ध मिलता है, अनुमान यही होता है कि व्यंजना-व्यापार अपना कार्य कर रहा है। तभी तो ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य माना गया है।' (साहित्य सिद्धांत, पृ.54) फिर भी ध्वनि के भेदों की थोड़ी बात अपेक्षित है। ध्वनि के मोटे भेद हैं - अभिधामूला और लक्षणामूला। लक्षणामूला के दो भेद - अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि और अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि से अभिप्राय है - जहाँ वाच्यार्थ दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाए अर्थात् इसमें वाच्यार्थ बाधित अथवा अनुपपन्न होने के कारण दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है। मुख्यार्थ की अनुपपत्ति प्रायः दो कारणों से होती है - (1) किसी शब्द की पुनरुक्ति के कारण, जैसे राम राम ही हैं (2) वक्ता का मंतव्य अस्पष्ट होने के कारण, जैसे गंगा पर गाँव हैं - कथन का अर्थ है 'गंगा के समीप ही'। इस अर्थान्तर को ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि को अविवक्षित वाच्य ध्वनि का पहला भेद माना जाता है। अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ अत्यंत तिरस्कृत रहता है - उसको छोड़ दिया जाता है - यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार ही होती है। पदगत जैसे 'तुम्हारी आँखों का आकाश / सरल आँखों का नीलाकाश / खो गया मेरा खग अनजान।' (सुमित्रानन्दन पन्त) यहाँ 'खग' शब्द का मुख्यार्थ प्रसंग में असिद्ध होने के कारण छोड़ दिया गया है - परित्यक्त है एवं 'मन' का अर्थ देना है।

इसी प्रकार, अभिधामूला के दो भेद हैं - असंलक्ष्यक्रम ध्वनि और संलक्ष्यक्रम ध्वनि। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि में पूर्वापर का क्रम ठीक प्रकार से दिखाई नहीं दे पाता - पर क्रम होता अवश्य है और आभासित भी होता है। इसीलिए इसे अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का पहला भेद भी कहा जाता है। अभिधामूला ध्वनि में वाच्यार्थ अपना बोध कराकर व्यंग्यार्थ की पुष्टि करने लगता है। असंलक्ष्यक्रम की व्यंजनाएँ आठ रूपों में होती हैं - रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसंधि तथा भाव-शबलता। रस में अनौचित्य रसाभास है - जैसे शिष्य का गुरू-पत्नी से प्रेम अनौचित्य है। 'सूरदास सरबस दै दीजै कारो कृतहि न माने' पूरे वाक्य में वक्ता की खीझ का चमत्कार है। संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का पूर्वापर क्रम स्पष्ट रीति से लक्षित होता है - इसी से इसे संलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते हैं। कभी-कभार इसे 'अनुरणन ध्वनि' भी कहा जाता है। अनुरणन माने है पीछे होने वाली अनुगूँज - घंटे के अनुगूँज की तरह। यह व्यंजना कभी वस्तु-ध्वनि से होती है कभी अलंकार ध्वनि से। 'वस्तु' किसी बात का कथन - 'ऊधौ भली करी ब्रज आए' की वस्तु-ध्वनि है कि ऊधो तुमने ब्रज की गोपियों को निर्गुण का उपदेश देकर अच्छा ही किया - हमारी कृष्ण में भक्ति और दृढ़ हो गई।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में व्यंजना के सादृश्य अर्थ की बात प्राचीनकाल से होती चली आई है तथा शैली पर विचार करने वाले सभी आचार्यों ने वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ - व्यंग्यार्थ की चर्चा की। 'विट', 'ह्यूमर', 'सटायर', 'आयरनी' की चर्चा में व्यंग्यार्थ की बात है। रिचर्डस ने 'इमोटिव मीनिंग' तथा 'कंटेक्स्चुयल मीनिंग' में व्यंजना-व्यापार का ही संकेत दिया है। एम्पसन ने 'एम्बिग्युटी थियरी' (अनेकार्थकता के सिद्धांत) में व्यंजना-वृत्ति की अनंतता को ही संकेतित किया है। एफ.आर.लीविस तथा टिलयर्ड ने 'ऑब्लीक मीनिंग' की बात व्यंजना के संदर्भ में ही कही हैं। वास्तव में 'ऑब्लीक मीनिंग' तो व्यंजना का लगभग पर्याय है। सार-संक्षेप यह कि काव्यार्थ या व्यंग्यार्थ या काव्य की अनंत अर्थ-संभावनाओं की बात देश-विदेश में सदैव मान्य रही है।

4.6 तात्पर्या-वृत्ति

अभिधा वृत्ति द्वारा वाक्यगत प्रत्येक पद का वाच्यार्थ ज्ञात हो चुकने के बाद जिस वृत्ति द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ (तात्पर्य) का ज्ञान होता है उसे **तात्पर्या-वृत्ति** कहा जाता है। काव्य की इस चतुर्थ-शक्ति के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने 'तात्पर्या-वृत्ति' को व्यंजना से पृथक माना है किंतु परवर्ती टीकाकारों ने तात्पर्या-वृत्ति से व्यंजना को अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस बात पर सभी एकमत हैं कि तात्पर्य की स्थिति पद में - वाक्यार्थ में - होती है।

कुमारिल भट्ट की चिंतन-परंपरा के मीमांसकों के मत से अभिधा-शक्ति के द्वारा प्रत्येक पद का अलग-अलग अर्थ ही ज्ञात होता है, इसका अन्वित अर्थ ज्ञात नहीं होता - अर्थात् वाक्यार्थ ज्ञात नहीं होता। अभिधा-वृत्ति का क्षेत्र प्रत्येक पद के अर्थ निर्देश तक सीमित है। संपूर्ण वाक्य के 'तात्पर्य' निर्देश के लिए अन्य वृत्ति चाहिए, वह है तात्पर्या-वृत्ति। अभिधावृत्ति से प्रोक्त अर्थों का आपस में 'तात्पर्य' वृत्ति के द्वारा अन्वय-संबंध स्थापित करना पड़ता है। इसी कारण इन मीमांसकों को 'अभिहितान्वयवादी' कहा जाता है। अभिहितान्वयवादियों के अनुसार किसी वाक्य का अर्थ तीन कारणों से निश्चित होता है - आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि। घोड़ा, गौ आदि पद अर्थ-अभिव्यक्ति के लिए दूसरे पदों से संबंध की अपेक्षा रखते हैं। पदों के परस्पर साहचर्य के बिना 'वाक्यार्थ' संभव ही नहीं है। इसी प्रकार, पदों में उपयुक्त अर्थ देने की योग्यता भी होनी चाहिए - अयोग्यता का प्रसिद्ध उदाहरण है - 'वह आग से सींचता है'। जबकि 'पानी से सींचा जा सकता है, आग से नहीं।' तीसरा कारण है - सन्निधि अर्थात् सहयोगी पदों के बीच में अनावश्यक व्यवधान होता है तो अर्थ-बाधा आती है। बीच-बीच में निरर्थक शब्दों के आने से अर्थ-बाधा आती है। अतः कह सकते हैं कि आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि तीन कारण मिलकर अर्थ का स्फोट करते हैं। इस बात पर बार-बार बल दिया गया है कि स्मृति-मति-प्रज्ञा अर्थात् त्रिकालदर्शी प्रतिभा ही तात्पर्य-वृत्ति का आधारभूत तत्व है। पश्चिम में 'इम्प्लाइड मीनिंग' अर्थात् गूढ़ार्थ और कॉन्टेक्चुयल मीनिंग अर्थात् संदर्भगत अर्थ को न्यू क्रिटिसिज़्म, शैली-विज्ञान, संरचनावाद में बहुत महत्व मिला है। नव्य-अरस्तूवादी आलोचक भी 'प्लॉट' की चर्चा में तात्पर्य की चर्चा करना जरूरी समझते हैं। किंतु आलोचकों का एक ऐसा वर्ग भी देश-विदेश में है जैसे टी.एस.एलियट और एफ.आर. लीविस आदि जो तात्पर्य और व्यंजना (सजेस्टीविटी) को एक मानते हैं।

4.7 मूल्यांकन

देश-विदेश की समीक्षा-पद्धतियों में विश्लेषण की पद्धति का ज़ोर बढ़ रहा है। 'नयी समीक्षा' तो अपने इस कार्य के लिए प्रसिद्ध ही रही है। संस्कृत में भाष्य, टीका-पद्धति में इसी विश्लेषणात्मक-गवेषणात्मक समीक्षा का बोलबाला रहा है। हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ. रामविलास शर्मा, दोनों का ज़ोर शब्द-अर्थ विश्लेषण पर है। विश्लेषण तभी संभव होता है जब आलोचक शब्द की विभिन्न शक्तियों तथा अर्थ-भेद की विभिन्न पद्धतियों-भेदों-प्रभेदों से गहन परिचय रखता हो। शब्द और अर्थ की व्याख्या, अर्थ-मीमांसा के आधार पर मूल्य-मीमांसा का जो कार्य आज की आलोचना में हो रहा है उसकी अपनी उपयोगिता और सार्थकता है।

4.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. काव्य की अभिधा-शक्ति पर विचार कीजिए।
2. काव्य में लक्षणा शब्द-शक्ति की स्थिति स्पष्ट कीजिए।
3. काव्य में व्यंजना-शक्ति पर प्रकाश डालिए।
4. तात्पर्या-वृत्ति की सार्थकता पर विचार कीजिए।

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि भाग-1**, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **रस मीमांसा,** काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
3. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, **साहित्य सहचर**, 'हज़ारी प्रसाद द्विवेदी रचनावली', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
4. जयशंकर प्रसाद, **काव्य कला तथा अन्य निबंध**, भारती भंडार, इलाहाबाद.
5. गजानन माधव मुक्तिबोध, **नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध**, मुक्तिबोध रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
6. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', **दूसरा सप्तक**, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली.
7. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', **सर्जना और संदर्भ**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
8. बाबू गुलाबराय, **सिद्धांत और अध्ययन**, आत्माराम एंड संस, दिल्ली.
9. धीरेन्द्र वर्मा (संपा.), **हिंदी साहित्य कोश भाग-1,** ज्ञानमंडल, वाराणसी।
10. डॉ. नगेन्द्र, **भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.
11. डॉ. नगेन्द्र, **रस सिद्धांत**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.
12. डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. सावित्री सिन्हा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
13. डॉ. नगेन्द्र, **अरस्तू का काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.
14. डॉ. राम अवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना.
15. डॉ. रामविलास शर्मा, **आस्था और सौंदर्य**, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली.
16. डॉ. रामविलास शर्मा, **परम्परा का मूल्यांकन**, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली.
17. लक्ष्मीकांत वर्मा, **नयी कविता के प्रतिमान**, 'लक्ष्मीकांत वर्मा की प्रतिनिधि रचनाएँ' में संकलित, सचिन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली.
18. लक्ष्मीकांत वर्मा, **नये प्रतिमान पुराने निकष**, 'लक्ष्मीकांत वर्मा की प्रतिनिधि रचनाएँ' में संकलित, सचिन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली.
19. नामवर सिंह, **कविता के नए प्रतिमान**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
20. प्रो. निर्मला जैन, **रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
21. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **भाषा और संवदेना**, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली.
22. डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त, **रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन**, भारत प्रकाशन, अलीगढ.
23. डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, **हिंदी आलोचना का सैद्धांतिक आधार**, सचिन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली.